इकाई 14 ठाकुर का कुआं : प्रेमचंद

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 कहानी का आशय

14.3 जातिप्रथा और छुआछूत

14.4 जातिभेद उन्मूलन और दलित अस्मिता का आंदोलन

14.5 अछूत समस्या के प्रति प्रेमचंद का जुड़ाव और प्रतिबद्धता

14.6 स्त्री के वर्गगत और जातिगत शोषण का चित्रण

14.7 सारांश

14.8 प्रश्न और अभ्यास

14.0 उद्देश्य

'उपन्यास एवं कहानी' पाठ्यक्रम की चौदहवीं इकाई 'ठाकुर का कुआं' आपके सामने है। प्रेमचंद ने इस कहानी के माध्यम से भारतीय जातिप्रथा की सबसे घृणित परंपरा अस्पृश्यता (छुआछूत) के कारण तिरस्कार, अपमान और मानवीय अधिकारों से वंचित जीवन जी रहे अछूतों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को अभिव्यक्त किया है। पानी के लिए तरसते अछूत जीवन की वास्तविकता की यह कहानी है। प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप भारतीय समाज में जातिप्रथा के कारण गैर-बराबरी, अभाव, विपन्नता, तिरस्कार, उत्पीड़न को सह रहे तमाम अछूत वर्ग की त्रासदी को जान सकेंगे। उस पर गहराई से सोच सकेंगे। और साथ-साथ :

- इंसान ने ही जातिगत भेदभाव के आधार पर गैरबराबरी को बढ़ावा देकर उसे स्थायी रूप देने के लिए अनेकानेक धार्मिक, पारंपारिक, सनातनी ढकोसलों का सहारा लिया और किस प्रकार करोड़ों अछूतों को इन्सान होने के दर्जे से नीचे गिराकर गुलामों का जीवन जीने पर मजबूर किया, इस वास्तविकता को आप जान सकेंगे;
- अछूत गंगी को पानी के लिए जातिप्रथा और छुआछूत परंपरा की बाधाओं को पार करके, जीवन को दांव पर लगाना पड़ता है, इस सच्चाई से आप परिचित हो सकेंगे;
- गंगी की अछूत बस्ति में उनका अपना कुआं न होना अछूतों की गरीबी और आर्थिक विपन्नता की स्थिति को दर्शाती है। अछूत बस्ति आर्थिक रूप से इतनी विपन्न क्यों है? के सवाल को भी समझने में यह इकाई आपकी सहायता करेगी;
- अस्पृश्यता का व्यवहार करने वाले हिंदुओं से संघर्ष करने के स्थान पर गंगी का पलायन करना, समस्या का समाधान नहीं है, बल्कि जातिप्रथा और अस्पृश्यता निर्मूलन के लिए गंगी द्वारा कड़ा संघर्ष करने की आवश्यकता थी। इससे आप सहमत हो सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

प्रेमचंद आधुनिक युग के पहले महत्वपूर्ण लेखक है जिन्होंने दलित समस्या पर सर्वाधिक गहराई से विचार किया है। प्रेमचंद के समकालीन अन्य रचनाकारों में राहुल सांकृत्यायन और निराला ने भी दलित जीवन की भयावह त्रासदी को वाणी दी है, लेकिन सबसे सशक्त रचनाएँ प्रेमचंद ही दे पाए हैं। उन्होंने आधुनिक भारतीय समाज में जातिव्यवस्था के कारण अछूत माने गए दलित समाज के त्रासद अनुभवों को अपने रचना कर्म का विषय बनाया है। 'ठाकुर का कुआँ,' 'सद्गति ,' 'दूध का दाम,' 'कफन' आदि कहानियाँ दलित जीवन में व्याप्त अभाव, पीड़ा, उत्पीड़न और दर्द को अभिव्यक्त करती हैं। उनकी कहानियों में छुआछूत का विरोध स्पष्टतः सामाजिक और आर्थिक संदर्भों के रूप में किया गया है। प्रेमचंद मानव-मानव के बीच समानता का पुरस्कार करते हैं, और विशिष्ट जातियों के जन्मगत विशेषाधिकारों का विरोध करते है। मनुष्य का स्थान अच्छे गुण और कर्मों के आधार पर निश्चित होना चाहिए न की जन्म के आधार पर। लेकिन हिंदू धर्म के जिस तर्क के कारण जातियों का विभाजन, विभिन्न जातियों के बीच रोटी-बेटी के व्यवहार का निषेध किया गया, और अछूतों के मानवाधिकारों को छीनकर उनका शोषण किया उच्च कही गई जातियों को न केवल विशेषाधिकार दिए बल्कि उसकी सुरक्षा के लिए कानून बनाकर उन्हें कड़ाई से लागू किया जाता है। जातिव्यवस्था के तहत जन्मना जाति तय होने से व्यक्ति का न केवल सामाजिक दर्जा बल्कि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति भी निश्चित हो जाती है। जाति के आधार पर पेशों का बंटवारा तथा उत्पादन के साधनों पर अधिकार या उससे वंचित किया जाना भी जातिव्यवस्था द्वारा निर्धारित होता है। इस सबके पीछे धर्म का आधार दिया गया है। ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से जातियों की निर्मिति की मनगढंत झूठी कहानी जन्मना जाति निर्धारण के लिए उपयोग में लाई गई। अपने को श्रेष्ठ बनाएँ रखने के लिए इस झूठी कहानी को भाग्य, कर्मफल, पूनर्जन्म के झूठे तर्क का सहारा दिया गया। अंधविश्वास और शिक्षा के अभाव में निम्न तबका इसे ही अपना प्रारब्ध समझता रहा। ज्ञान और शिक्षा के अधिकार से वंचित रखने का धर्म के ठेकेदारों का यह छल तब से लेकर आज तक सफल होता आ रहा है। इस धार्मिक छल-कपट, श्रेष्ठता के ढोंग, आर्थिक उत्पादनों पर इनके एकाधिकार और निम्न जातियों को मानवीय अधिकारों से वंचित किए जाने की साजिशों का पर्दाफाश प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के माध्यम से किया है। 'ठाकुर का कुआं' कहानी अछूतों के मानव अधिकारों की पूर्ति बिना दयनीय स्थिति में जीने की त्रासदी को चित्रित करती है। वर्ण - जाति व्यवस्था जैसी अतीशय अमानुषिक रचना से हम सभी परिचित हैं। यह कोई अनायास नहीं है कि दलितों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। गरीबी रेखा से नीचे रहने वाली भारतीय जनसंख्या का साठ प्रतिशत हिस्सा दलित समुदाय है। वर्ण व्यवस्था ने समाज मे असमानता और श्रेणीनुमा ढांचा पैदा करके दलितों को सभी सुख सुविधाओं से वंचित रखा। शूद्रों और स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा, इन्हें संपत्ति रखने के अधिकार से वंचित रखा, शूद्रों (अछूतों) को अन्न की जूठन और कपड़ों की उतरन पर निर्भर रहने को मजबूर किया। कथित ऊँची जाति के कुओं से ये पानी नहीं ले सकते। इनका अपना कुआँ हो नहीं सकता कथित ऊँची जाति की दया पर निर्भर रहकर पानी के लिए तरसना ही इनके जीवन की त्रासदी है। घंटो याचना करने पर किसी सवर्ण का मन पसीजा तो दो चार बाल्टियों से मटके भर देंगे, वह भी एहसान जताते हुए और हजार गलियाँ देकर। पानी जैसी मानव जीवन की मूलभूत जरूरत, जो एक प्राकृतिक संपदा है। लेकिन सवर्णों ने सत्ता और संपत्ति के जोर पर इसे अपने वर्चस्व में कर लिया है। इस वर्चस्व का विरोध करने अथवा इस व्यवस्था को तोड़ने पर अछूतों को गाँव पंचायतों द्वारा अपमानित, उत्पीड़ित किया जाता है या इन्हें मार दिया जाता है। 'ठाकुर का कुआँ' दलितों की इसी गंभीर समस्या को उजागर करती है। सन् 1932 में 'ठाकुर का कुआँ' में अभिव्यक्त तत्कालीन समय में रही छूआछूत की समस्या आज सन् 2001 में वैसी की वैसी मौजूद है। आज भी दलित ऊँची जाति के कुएँ से पानी नहीं ले सकते। जहाँ सरकारी हैंडपम्प लगे है वहाँ पर उनकी बारी सबसे

अंत में सवर्णो द्वारा पानी लेने के बाद ही क्यों आती है? जब तक सवर्ण लोग पानी नहीं भर लेते, किसी दलित की हैंडपम्प को छुने की हिम्मत नहीं होती। यदि मानव अधिकार को हासिल करने के लिए संघर्ष किया जाता है तो, दलितों को सबक सिखाने के लिए और उन्हें उनकी हदें क्या हैं यह जताने के लिए कुम्हेर, बेलछी, लक्ष्मणपुरबाथे जैसे हत्यकांडों द्वारा बली चढ़ाया जाता है। दलितों की पानी की समस्या स्वतंत्रता के चौवन वर्षों के बाद भी दूर नहीं हो पाई। जिसके पीछे जातिगत भेदभाव, निम्न जातियों के प्रति हीन और द्वेष की भावना और अपने श्रेष्ठत्व की अहं भावना जैसी सवर्ण मानसिकता कारणीभूत है।

इस प्रकार की निरंकुश सवर्ण सत्ता अछूतों को बेगारी के बदले में घृणा व तिरस्कार देती है। इस तिरस्कार और घृणा की उत्पत्ति हिंदू धर्मप्रणित विचारधारा से हुई है, जो असमानता, ऊँचनीच के भेदभाव, छुआछूत, गुलामी को प्रश्रय देती है। जिसमें स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा और न्याय का पूर्ण नकार है। वर्ण श्रेष्ठता के क्रम में वर्णो के बीच अधिकार सम्पत्ति व सत्ता का बंटवारा है। वर्ण व्यवस्था में सबसे निम्न श्रेणी में शूद्र और अतिशूद्र हैं। उनका काम है तीनों वर्णों की सेवा करना, बदले में जो कुछ बचाखुचा अन्न मिले उस पर निर्वाह करना, उतरन के कपड़ों से तन को ढंकना और बहिष्कृतों की तरह गाँव की परिसीमा से बाहर रहना। जहाँ इनकी बस्तियाँ हैं उनमें केवल सूरज की रोंशनी, गर्मी-सर्दी और बारिश ही बेरोक-टोक आ सकती है। इन्हें समाज की मुख्यधारा में कभी शामिल नहीं होने दिया। ना इनके पास जमीन है न अन्य प्रकार की कोई स्थाई संपत्ति, बेगारी पर काम करते हुए पीढ़ियाँ बीत जाती हैं फिर भी जीने के लिए उत्पादन के किसी साधन पर इनका अधिकार नहीं हो पाता। जाति प्रथा के कारण परंपरागत धँधे जो मजबूरन ये करते हैं, उससे आमदनी इतनी नहीं होती कि आर्थिक स्थिति बेहतर हो सके। पेशों के जातिगत बंटवारे के कारण आज भी दलित समुदाय मैला सफाई जैसा अमानुष और अत्यंत गंदा काम करने के लिए बाध्य हैं। इस मैला सफाई के काम के बदले में एक सवर्ण परिवार से दस पंद्रह रुपये माहवार या हररोज एक रोटी मजदूरी के तौर पर दी जाती है। मैला ढोने जैसे घृणित कार्य से इन्हें मुक्ति तभी मिल सकती है जब ये गाँवों से पलायन करके शहरों में स्थलांतर करेंगे। प्रेमचंद ने इस कहानी में अछूतों के साथ हो रहे छुआछूत के व्यवहार के कारण अछूत पानी को छू नहीं सकते या कुएं से पानी नहीं ले सकते। जैसी सामाजिक समस्या की पीड़ात्मक अनुभूति को अभिव्यक्ति दी है।

14.2 कहानी का आशय

जोखू बीमार है, और प्यास के कारण बेहाल है। गंगी कल रात जो पानी भर लायी थी, तब उसमें बांस नहीं थी। लेकिन जब दूसरे दिन जोखू पानी पीने लगता है तो उसमें से सड़ी हुई बांस आती है। गंगी उसे पानी पीने से रोक देती है। उसे डर है कहीं जोखू और ज्यादा बीमार न हो जाए। वह ताज़ा पानी भर लाने की बात करती है। लेकिन जोखू उसे मना करता है कि ठाकुर के कुएँ पर कौन चढ़ने देगा। नाहक हाथ-पांव तुडवा आयेगी इसलिए उसे वह चुपचाप बैठी रहने के लिए कहता है। वह जानता है कि यह असंभव है कि गंगी ठाकुर या साहू के कुएँ पर चढ़कर पानी ले आ सकती है। गंगी जिद करती है कि वह कम से कम मांगकर ही सही एक लोटा पानी ले आएगी। वह देर तक इंतजार करती है और जब सभी लोग सोने चले जाते है, ठाकुर दरवाजा बंद करके अंदर चला जाता है तो वह लपककर कुएँ पर चढ़ जाती है। एक घड़ा पानी भी वह खींच लेती है। घड़ा जगत पर रखने ही वाली होती है कि ठाकुर का दरवाजा खुलता है। गंगी देखती है कि शेर से भी भयंकर मुंह वाला ठाकुर दरवाजे पर खड़ा है। दशहत के मारे गंगी के हाथ से रस्सी छूट जाती है और घड़ा पानी में गिरने की आवाजे सुनाई देती है। गंगी पूरी ताकत से कुंए की जगत से कुद कर भागती हुई घर पहुंचती है। वह देखती है कि जोखू लोटा मुंह को लगाए वही मैला गंदा पानी पी रहा है।

कहानी यहाँ समाप्त होती है। 'एक बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न छोड़ देती है, पाठकों के लिए। यह प्रेमचंद की सबसे छोटी कहानी है, लेकिन एक ज्वलंत समस्या की ओर संकेत करती है। जाति प्रथा की जकड़न उसकी अमानुषीकता और अछूतों की दीनहीन स्थिति को उजागर करती है।

14.3 जातिप्रथा और छुआछूत

'ठाकुर का कुआं' में चित्रित घटना, मात्र एक घटना या प्रसंग नहीं है, यह दलित जीवन की त्रासदी की अभिव्यक्ति है। त्रासदी यह है कि अछूतों को ठाकुर या साहू के कुएँ से पानी लेने का अधिकार नहीं। अछूत जहाँ से पानी भरते हैं उस गड्ढे में किसी जानवर के गिरकर मरने से पानी दूषित होकर उसमें से सड़ांध आ रही है। जोखू बीमार है प्यास के मारे उससे रहा नहीं जा रहा है। जो पानी गंगी एक दिन पहले भर लाई थी, पीने के काबिल नहीं रहा, लेकिन गंगी या जोखू करें तो क्या करे? दूषित गंध-मारते पानी को पीने से जोखू की बीमारी और बढ़ सकती है। इसलिए गंगी उसे पानी पीने से रोक देती है। ठाकुर के कुएँ से पानी लेने की ठानकर वह घड़ा और रस्सी लेकर रात के अंधेरे में छुपकर ठाकुर के कुएँ से पानी खींच भी लेती है लेकिन तभी ठाकुर की कोठी का दरवाजा खुलता है 'कौन है, कौन है' कडकती आवाज में पुकारते ठाकुर को दरवाजे पर खड़े देखकर, डर के मारे घड़ा और रस्सी छोडकर गंगी जान बचाकर भाग निकलती है।

जाति प्रथा और छुआछूत के कारण अछूत किस दूर्दशा का शिकार है और वे पानी जैसी जीवन की बुनियादी जरूरत के लिए किस प्रकार सवर्णों की दया पर निर्भर है, इसे प्रेमचंद ने प्रस्तुत कहानी के द्वारा उजागर किया है। वैसे छुआछूत की प्रथा की निर्मिति के कारणों पर कोई प्रकाश प्रेमचंद ने इस कहानी के माध्यम से नहीं डाला। लेकिन इस कहानी के अध्ययन के साथ-साथ जाति प्रथा की निर्मिति हिंदू धर्म की जिस विचारधारा की उत्पत्ति है उसे समझना हमारे लिए नितांत जरूरी है। आइये देखें वह कैसी अमानवीय धार्मिक अवधारणा है, जो कि मानव-मानव के बीच में इस कदर असमानता व भेदभाव का विषैला बीज बोती है, जिसके कारण आज तक जाति व्यवस्था न केवल कायम है बल्कि छुआछूत के कारण देश की आबादी की एक चौथाई से ज्यादा जनसंख्या अपनी ही भूमि पर बहिष्कृतों की तरह जीवन जीने के लिए बाध्य है। क्या कोई धर्म ऐसी भेदभावपूर्ण समाज रचना के लिए धर्मग्रंथों का निर्माण तक कर डालता है, और उसी के आधार पर पूनर्जन्म, भाग्य, कर्मफल की एक झूठी कहानी तैयार करके निम्न जाति में जन्म लेने की नियती के साथ जोड़ देता है। धर्मग्रंथों का हवाला देकर हिंदू धर्म ने न केवल जाति का निर्माण किया बल्कि इन्सानों को उच्च और निम्न श्रेणियों में विभाजित करके प्राकृतिक संसाधनों पर उनके अधिकारों को भी तय किया हैं। अछूतों को संपत्ति अर्जित करने और संपत्ति संग्रह का अधिकार नहीं है, यह स्पष्ट करने के लिए जंगल, जमीन पर किसी भी प्रकार के अधिकार से उसे वंचित किया। ये प्राकृतिक संसाधन केवल जीवन की आवश्यकता ही नहीं है बल्कि इसके एकाधिकार द्वारा संपत्ति व सत्ता भी हासिल होती है। धर्मग्रंथ यह भी कहते है कि पिछले जन्म में किए गए बुरे कर्मों के कारण इस जन्म में व्यक्ति अछूत के रूप में जन्म लेता है। इसलिए पूर्वजन्म के फलस्वरूप अब अछूत को इस जन्म में तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना और बदले में उत्पीडन, शोषण, अभाव, अपमान और तिरस्कार झेलना पड़े तो इसे अपना भाग्य समझना चाहिए।

हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहार करने पर अछूत अगले जन्म में उच्चजाति में जन्म ले सकता है। यह हिंदू धर्म की मान्यता है। जिस कर्मफल, पूनर्जन्म सिद्धान्त ने वर्तमान जीवन में दलितों को अभाव, अपमान और घृणा सहने के लिए मजबूर किया वह मानवनिर्मित धर्म और शास्त्र की उपज है, जो मानव को न केवल गुलाम बनाए रखता है बल्कि सदियों तक उसके आर्थिक अधिकार का निर्धारण भी करता है। एक

इंसान का दूसरे को गुलाम बनाए रखने का यह षडयन्त्र आज तक इसीलिए कामयाब रहा है। दलित महिला सवर्णों द्वारा बलात्कार की शिकार इसलिए होती है, क्योंकि मनुस्मृति ने लिखित आदेश के रूप में तथाकाथित उच्च जातियों को निम्न जातियों की स्त्रियों के यौन शोषण का अधिकार दिया है। मनुस्मृति हिंदू धर्म की आचार संहिता मानी गई है और उसमें बताए विधानों का हजारों वर्षों से कड़ाई से पालन किया जा रहा है। इस अधिकार प्रभुता और अहं के कारण आज भी सवर्ण पुरूष दलित महिलाओं को भोग की वस्तु समझते हैं। यह दलित स्त्रियों की अस्मिता को नष्ट करके दलित समुदाय में हीन भावना पैदा करने की कोशिश हैं। जिससे वे अधम स्थिति से ऊपर उठने का प्रयास ही न कर सकें। सभी अस्पृश्यों का जीवन स्तर गरीबी की रेखा के नीचे क्यों हैं? वह इसलिए है कि अस्पृश्यता और गरीबी का संबंध एक सिक्के के दो पहलुओं जैसा है। अछूतों की गरीबी की जड़े हिंदू धर्म से जुड़ी हैं, हिंदू धर्म जन्मना जाति तय करता है और अछूतों का इनके जन्म के साथ ही पेशा तय हो जाना इसी कट्टरता का ही परिणाम है। जो कि अछूतों को इतनी भी आमदनी देने वाले नहीं है, जिससे उनकी आर्थिक निर्भरता दूर हो सके और वे बेहतर स्थिति में जी सकें।

14.4 जातिभेद उन्मूलन तथा दलित अस्मिता का आंदोलन

अछूतों के प्रति सवर्ण समुदाय किस कदर अमानुषिक और असंवेदनशीनल है इसकी हजारों हजार घटनाएँ हमारे इतिहास के पन्नों पर बिखरी पड़ी हैं। मूलभूत अधिकारों से वंचित अछूत समाज हजारों सालों से बहिष्कृतों का जीवन जी रहा है। पानी और अन्न के लिए वह हमेशा सवर्ण समाज पर निर्भर रहा क्योंकि उत्पादन के साधनों पर सवर्णों की सत्ता रही। जिस सवर्ण समुदाय की सत्ता में उत्पादन प्रणाली और प्राकृतिक संसाधन रहे है, उन्हीं के अधीन रहकर ही अछूतों को जीना पड़ रहा है। दलित जीवन की वास्तविकता को कलमबद्ध करके इस गंभीर प्रश्न के प्रति सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित करने का कार्य प्रेमचंद ने किया है। प्रेमचंद हिंदी के प्रगतिशील लेखक संघ के एक सन्माननीय सदस्य थे और प्रगतिशील विचारधारा से विकसित चेतना दृष्टि से उन्होंने दलितों के साथ हो रहे अन्याय को रचनात्मक अभिव्यक्ति दी है।

प्रेमचंद जब ठाकुर का कुआं की रचना कर रहे थे तब डॉ. आंबेडकर ने दलित अस्मिता के लिए दलित मुक्ति संघर्ष छेड़ा था। जातिभेद के कारण दलितों के सदियों से हो रहे शोषण और अपमान के विरोध में उन्होंने सामाजिक आंदोलन का सूत्रपात किया। महाराष्ट्र के महाड गाँव में 1927 में चवदार तालाब पर मानव अधिकारों को प्राप्त करने के लिए अभिजात्य सनातनी वर्ग के विरोध में पहला ऐतिहासिक संघर्ष छेड़कर दलितों में चेतना जगाकर उनमें अपने अधिकारों के प्रति अहसास जगाया। हजारों की संख्या में अछूतों ने डॉ. आंबेडकर के नैतृत्व में नासिक के कालाराम मंदिर प्रवेश का सत्याग्रह किया। निश्चित तौर पर तो नहीं, लेकिन इस आंदोलन के प्रभाव से प्रेमचंद के दृष्टिकोण में जरूर परिवर्तन आया दिखाई देता है। जिसे हम उनकी दलित जीवन संबंधी कहानियों में आई नयी चेतना और तेजस्विता में देख सकते हैं। सन् 1937 में 'सद्गति', 1932 में 'ठाकुर का कुआं' और 1934 में 'दूध का दाम' जैसी कहानियाँ लिखकर प्रेमचंद ने इसका प्रमाण दिया। राष्ट्रीय आंदोलन उस समय अपने पूर्ण जोर पर था। उपनिवेशवाद के खिलाफ महात्मा गांधी और अन्य नेतागण अंग्रेजों से टक्कर दे रहे थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक तरफ महात्मा फुले, आंबेडकर और पेरियार वर्णाश्रम धर्म, जातिप्रथा के निर्मूलन, ब्राह्मणवाद के अंत के लिए लड़ रहे थे, तो दूसरी ओर नेहरू, गांधी, पटेल, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, मदन मोहन मालवीय और लोकमान्य तिलक जैसे नेता ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ रहे थे। वर्णाश्रम और जातिप्रथा को नष्ट किए बिना ही आदर्श राष्ट्र

बनाने का स्वप्न देख रहे थे। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के एजेंडे पर अस्पृश्यता निर्मूलन, जातिभेद की समाप्ति जैसे प्रश्न उभरे ही नहीं थे। कांग्रेस के राजनीतिक सम्मेलनों के साथ होने वाली सामाजिक कान्फ्रैंस में जब सामाजिक, सांस्कृतिक सुधारों के तहत जातिप्रथा निर्मूलन या बालिकाओं के विवाह पर पाबंदी लगाने वाला बिल चर्चा में आया तो भारतीय असन्तोष के जनक के तौर पर पहचाने जाने वाले लोकमान्य तिलक ने, सनातनी मूल्यों को बचाने के लिए इस प्रगतिशील बिल का तीव्र विरोध किया था। गरमदल के नेता इसके बाद कांग्रेस के राजनीतिक सम्मेलनों के साथ-साथ होने वाली सामाजिक कान्फ्रैंस करने पर रोक लगाने में सफल हो गए थे। उनका मानना था कि सामाजिक प्रश्नों को स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भी सुलझाया जा सकता है।

जबकि डॉ. आंबेडकर, पेरियार, अछुतानंद राष्ट्रीय आंदोलन के इस ब्राह्मणवादी, सनातनी चरित्र को समझ चुके थे और इसलिए सामाजिक और आर्थिक समानता के लिए संघर्षरत थे। सामाजिक सुधार के प्रति सवर्ण नेताओं के मन में कोई आस्था नहीं थी। इसीलिए गरम दलीय राष्ट्रवादियों ने राजनीतिक ध्येय की आड़ में सामाजिक सुधारों का विरोध किया था। और उच्चवर्णियों के राजनीतिक हेतु के प्रति शूद्रों के मन में तमाम शंकाए थी। इस संबंध में शरद पाटिल जो एक मार्क्सवादी विचारक होकर भी फुले-आंबेडकर की विचारधारा के साथ समन्वय करने से ही सामाजिक तथा आर्थिक बदलाव की संभावनाएँ देखते हैं, ने कहा है "भारतीय पूंजीवादी और बुद्धिजीवी वर्ग स्वतंत्रता आंदोलन में सबसे अधिक सक्रीय रहा है। भारतीय पूंजीपति बनिया और बुद्धिजीवी ब्राह्मण होने के कारण स्वतंत्रता आंदोलन पर अंत तक ब्राह्मणवादी प्रभाव रहा है।" (शरद पाटिल - मार्क्सवाद - फुले - आंबेडकरवाद पृ. 220) सामाजिक आंदोलन की शुरूआत महात्मा फुले ई.स. 1873 में सत्य शोधक समाज की स्थापना के साथ ही कर चुके थे। ब्राह्मणवादी वर्चस्व को नकारते हुए शूद्र (ब्राह्मणेतर) समाज में अस्मिता का सवाल जोर-शोर से सामने आया। हजारों वर्षों से संचित असंतोष नये समाज की रचना का ध्येय सामने रखकर सामाजिक संघर्ष में परिणत हुआ। जन्म के आधार पर और धर्मग्रंथों द्वारा प्रमाणित जाति व्यवस्था, ऊँच-नीच का भेदभाव, अस्पृश्यता जैसी हिंदू धर्माधिष्ठित ब्राह्मणवादी कल्पनाओं पर महात्मा फुले ने जोरदार हमला किया था और इस धार्मिक, सामाजिक संकीर्णता का खंडन करते हुए उन्हें बेबुनियाद सिद्ध किया। उनकी गुलामगिरी, आसूड जैसी सशक्त रचनाओं में उन्होंने ब्राह्मणवाद, ब्राह्मणधर्म की चालाकी, ब्राह्मणों का स्वार्थ आदि की कठोर आलोचना की। ब्राह्मण वर्ग द्वारा थोपी हुई गुलामी को जड़ से नष्ट करने के लिए शूद्र, अछूतों में शिक्षा का प्रसार करना वे महत्वपूर्ण मानते थे। शिक्षा हमें वह दृष्टि दे सकती है जिससे गुलामी, अस्पृश्यता, अन्याय, असमानता पर खड़ी सामाजिक व्यवस्था को खत्म किया जा सकता है। सदियों से ओढ़ी हुई मानसिक दासता को उतारकर फेंका जा सकता है। महात्मा फुले द्वारा प्रेषित इस मानवतावादी विचारधारा के प्रसार से शूद्रों में चेतना का विकास होने लगा था। लोकहितवादी, माधवराव रानडे, गोपालराव देशमुख, रामचंद्रराव धामणस्कर, डॉ. संतूजी लाड, नारायण मेघाजी लोखंडे द्वारा सत्यशोधक समाज के कार्यक्रमों को लागू करने से जनमानस में नई दृष्टि का निर्माण होने लगा था। शूद्रों के मन में आत्मोध्दार की प्रेरणा जागृत हुई। हिंदू धर्म के ब्राह्मणवादी आचार विचार, और सनातनी परंपराओं की कड़ी आलोचना होने लगी, जिससे हिंदू सनातनियों को भी हिंदू धर्म में सुधार करने की आवश्यकता महसूस हुई। धर्मसुधार की महसूस की गई इस आवश्यकता से ही प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, और आर्य समाज जैसी कुछ परिवर्तनवादी संस्थाओं का निर्माण हुआ। महात्मा फुले तथा सत्यशोधक समाज की सबसे प्रशंसनीय और प्रगतिशील सोच की परिणति थी इ.स. 1848 और 1850 में पूना में क्रमशः लड़कियों के लिए और अस्पृश्यों के लिए पाठशालाओं का खोला जाना। सत्यशोधक समाज के समाजकार्यकर्त्ताओं की मान्यता थी कि अछूतों व शूद्रों को राजनीतिक स्वतंत्रता से पहले ब्राह्मणवादी वर्चस्व और गुलामी से मुक्त किया जाना चाहिए अन्यथा स्वाधीनता के बाद इन सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने में

किसी को भी दिलचस्पी नहीं रहेगी। पाश्चात्य शिक्षा से मिली दृष्टि और विश्व से बढ़े संपर्क के कारण समाज के सबसे निचले तबके, अछूतों में अपनी स्थिति को लेकर हलचल पैदा हो गई थी। अस्मिता और अस्तित्व की चेतना उभरने लगी थी। दलित समाज की इन आकांक्षाओं को एक व्यवस्थित आंदोलन को सकारात्मक रूप देने का कार्य डॉ. आंबेडकर ने किया। उनके प्रभावशाली नैतृत्व ने हजारों वर्षो से शोषित, उत्पीड़ित दलित समुदाय में संगठित होकर शिक्षित होने और संघर्ष करने की चेतना जगाई। मानवीय अधिकारों के लिए हजारों अछूतों के साथ 'महाड के चवदार तालाब का आंदोलन', 'नासिक का कालाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह' और महाड में ही 'मनुस्मृति दहन' के द्वारा ऐतिहासिक क्रांतिकारी संघर्ष की शुरूआत की थी। दलित अस्मिता के लिए किए गए इस संघर्ष ने अछूतों में अपने अस्तित्व के प्रति अहसास जगाया था। हजारों की संख्या मे दलित डॉ. आंबेडकर के नैतृत्व में दलित मुक्ति आन्दोलन में शामिल थे। न केवल शहरों में, गाँवों तक में पहुँची चेतना की लहर ने अछूतों के अंदर सदियों से पहनी हुई गुलामी की बेडियों को तोड़ने का साहस पैदा किया।

डॉ.आंबेडकर और उनके अनुयायियों ने इस संघर्ष में सवर्ण हिंदुओं को भी शामिल होने का आह्वान किया था और सत्याग्रहियों से कहा था 'मंदिर प्रवेश से हमारा प्रश्न सुलझने वाला नहीं है। यह हम जानते हैं, हमारी समस्या व्यापक स्वरूप की है। ये सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, धार्मिक और राजनीतिक है। कालाराम मंदिर सत्याग्रह द्वारा हम उच्चवर्णीय हिंदुओ के समक्ष एक आह्वान खड़ा कर रहे हैं। हिंदू इंसान को इंसान का दर्जा देंगे अथवा नहीं? हम उच्च्वर्णीय हिंदुओं की परीक्षा ले रहे है, हमें पता है कि मंदिर में पत्थर का भगवान है, उसके दर्शन या उसकी पूजा से हमारी समस्या हल नहीं होने वाली। हमारा आज का यह सत्याग्रह हिंदुओं में मानसिक बदलाव लाने का एक प्रयास है।' (डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर द्वारा, दादा साहेब गायकवाड को लिखे पत्र से उद्धृत/ बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर समग्र वाड्मय)

हिंदू ब्राह्मणवादियों के समक्ष दलित मुक्ति संघर्ष ने आह्वान खड़ा कर दिया था। डॉ. आंबेडकर के सामने अछूतों की सामाजिक, आर्थिक मुक्ति का प्रश्न अस्पृश्यों के अस्तित्व, अस्मिता और आर्थिक स्वतंत्रता से जुडा था। जब कि गांधी, तिलक, सरदार पटेल, सावरकर और अन्य अनेक नेताओं के सामने अछूतों की सामाजिक मुक्ति से अधिक देश की आजादी का प्रश्न महत्वपूर्ण था। स्वतंत्रता के देशव्यापी आंदोलन में शामिल दिग्गज नेताओं में किसी ने भी अस्पृश्यों को सदियों की गुलामी से मुक्त कराना, अपना दायित्व नहीं समझा। जाति-प्रथा और छुआछूत के प्रश्न पर प्रत्येक ने मौन रहकर इसे स्वीकृति ही दी, दलितों को छुआछूत से मुक्ति दिलाने में किसी की भी आस्था नहीं थी। हिंदू नेता जिन हिंदू संस्कारों को ढो रहे थे उस हिंदू मानसिकता, ब्राह्मणवादी विचारधारा और अछूतों के प्रति तिरस्कार की निर्मिति के लिए जिम्मेदार ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों की खोजबीन करके डॉ. आंबेडकर ने विषमतावादी शास्त्र-शुद्ध रीति से समाज रचना की मीमांसा की। उनका जाति-भेद संबंधी लेखन उत्कृष्ट समाजशास्त्रीय दृष्टि से किया गया परिशीलन है। इस वैज्ञानिक दृष्टि से किए विश्लेषण के आधार पर जो तथ्य सामने आए वह चौकानेवाले थे। उसके मूल में वैदिक-बौद्ध संस्कृति द्वंद्व को पाया, जो आर्य-अनार्य द्वंद्व, सगुण-निर्गुण ब्रह्मरूपी द्वंद्व से लेंकर आज भी सवर्ण-अछूत द्वंद्व के रूप में अस्तित्व में है। प्रेमचंद जब 'ठाकुर का कुआं' की रचना कर रहे थे, तब डॉ.आंबेडकर द्वारा छेड़े दलित अस्मिता आंदोलन ने समाजचिंतकों के सामने भारतीय समाज व्यवस्था व सांस्कृतिक रिश्तों के बारे में नये दृष्टिकोण से सोचने का आह्वान खड़ा कर दिया था। जिसका कुछ-कुछ प्रभाव प्रेमचंद के साहित्य सृजन पर दिखाई देता हैं। छुआछूत की समस्या एक अछूत परिवार के जीवन को किस प्रकार अभाव, अपमान और असुरक्षितता का पर्याय बना देती है। जीवन की सबसे मूलभूत आवश्यकता 'पानी' पर अधिकार न होने और इसे प्राप्त करने के लिए किस प्रकार अपमानजनक तथा भयग्रस्त स्थिति से गुजरना पडता है,

इसके यथार्थ चित्रण द्वारा 'ठाकुर का कुआं' कहानी में प्रेमचंद ने अछूत जीवन की त्रासदी को अभिव्यक्ति दी है। 'ठाकुर का कुआं' से पहले की रचनाओं में जैसे कि 'रंगभूमि' उपन्यास में सूरदास एक चमार नायक है लेकिन, संपूर्ण उपन्यास में कहीं भी अछूत समस्या को अभिव्यक्त नहीं किया गया है। बल्कि मंदिरों में अछूत भी सवर्णों के साथ भजन किर्तन करते हैं और सूरदास के मरने के बाद हुए सहभोज में, एक ही पंगत में ब्राह्मण ठाकुरों के साथ चमार, पासी, डोम सभी अछूत साथ बैठकर भोजन करते है जैसी असंभव घटनाओं का चित्रण है। लेकिन ऐसी आदर्शवादी स्थिति उस समय संपूर्ण भारत में कहीं भी नहीं थी।

इन रचनाओं के सृजन के समय तक और आगे भी प्रेमचंद गांधीवाद में अति विश्वास के शिकार रहे हैं। यह प्रभाव सन 1932 के बाद लिखे गए उनके उपन्यास 'कर्मभूमि' में नहीं दिखाई देता क्योंकि 1931 और 1932 के दौरान इंग्लैंड में हुई राउण्ड टेबुल कान्फ्रेन्स में डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने दलितों के अलग प्रतिनिधित्व और पृथक निर्वाचन का सवाल उठाया था। जिसके खिलाफ गांधी जी ने येरवड़ा जेल में आमरण अनशन करके इसका विरोध किया। गांधीजी का कहना था "..... और अल्पसंख्यक लोग यदि पृथक निर्वाचन की मांग करें तो मैं कुछ हद तक उनकी बात समझ भी सकता हूँ । पर अछूतों की ओर से यह जो मांग की जा रही है उसका मुझे अत्यंत दुःख है। जिस प्रकार सिख-सिख के नाते, मुसलमान-मुसलमान के नाते अथवा यूरोपियन्स के नाते संसार के अंत तक रहना चाहते हैं, उसी प्रकार क्या अछूत भी अनंतकाल तक अछूत ही बने रहना चाहते हैं। मैं इस बात को यहाँ स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि यदि और लोग मेरी सहायता न करें तो भी मैं अकेला अछूतों के पृथक् निर्वाचन क्षेत्र का जी-जान से विरोध करूँगा।" (बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर-संपूर्ण वाङ्मय)

महात्मा गांधी द्वारा अछूतों के पृथक निर्वाचन क्षेत्र का विरोध, महज विरोध के लिए नहीं था। इससे पहले मुसलमान, सिख,पारसी समुदाय को सांप्रदायिक निर्णय और विभाजन के आधार पर पृथक निर्वाचन का अधिकार प्राप्त हो चुका था। अब अछूतों के निर्वाचन को लेकर आमरण अनशन करने का गांधी अधिकार खो चुके थे। अछूतों की समस्या अल्पसंख्यकों की समस्या से भिन्न थी। हिंदू होते हुए भी सनातनी हिंदू धर्म ने इन्हें जन्मना अस्पृश्य बनाकर जीवन की बुनियादी सुविधाओं और अधिकारों से से वंचित किया। उन्हें अछूत बनाकर समाज की मुख्यधारा से अलग-थलग कर रखा। डॉ. आंबेडकर ने राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस में अछूतों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अधिकार और राजनीतिक भागीदारी को निश्चित करने के लिए नौकरियों में तथा शिक्षा में आरक्षण और पृथक निर्वाचन क्षेत्र की माँग प्रस्तुत की थी। जिससे स्वतंत्र भारत में अछूतों को बराबरी का अधिकार मिले और स्वतंत्र भारत के नागरिक के रूप में समाज की मुख्यधारा में शामिल होने का अवसर मिल सके। इनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर नीतियाँ बनाई जाएं और अछूतों को अस्पृश्यता के दारूण अपमान से छुटकारा मिल सके। जातिवादी समाजव्यवस्था और अछूतों के प्रति भेदभाव की नीति को खत्म करने का यह एक कारगर और वैज्ञानिक उपाय वे मानते थे। लेकिन गांधी जी अछूतों को यह अधिकार मिले इस पक्ष में नहीं थे, क्योंकि वे अछूतों को हिंदू संप्रदाय का ही एक हिस्सा मानते थे। उन्हें डर था कि अल्पसंख्यक और अछूतों को राजनीति में बराबरी की भागीदारी मिलने से हिंदू बहुसंख्यक, अल्पसंख्यकों में तब्दील हो जाएंगे। इस भय के कारण गांधी जी ने आमरण अनशन का सहारा लेकर डॉ. आंबेडकर के विरुद्ध ज़नमत तैयार करके उन पर सारे भारतभर में दबावपूर्ण वातावरण तैयार किया गया। 'डॉ. आंबेडकर पर बहुत दबाव पड़ रहा था। अंग्रेजों के समर्थन से वे अपनी बात पर अडिग रह सकते थे। वे जातिवाद पर आधारित अछूत समाज के प्रति घृणा को अन्य सब बातों से ऊपर रख सकते थे। अगर वे ऐसा करते तो कौन न्यायप्रिय व्यक्ति उन्हें दोष दे सकता था।' (मधु लिमये : डॉ. आंबेडकर एक चिंतन, पृष्ठ-43)

गांधीजी को बचाने का नैतिक दायित्व डॉ. आंबेडकर पर डाल दिया गया। गांधी जी और उनके सहयोगियों की यह एक बहुत बड़ी राजनीतिक चाल थी। अथक प्रयासों के बाद अछूतों को मिले इस राजनीतिक अधिकार को वे छोड़ना नहीं चाहते थे लेकिन बढ़ते हुए प्रचंड दबाव और विरोध को देखते हुए 1932 में **'पूना पैक्ट'** के अधीन डॉ. आंबेडकर ने पृथक निर्वाचन के अधिकार को छोड़ दिया। डॉ. आंबेडकर को इस बात से बहुत आश्चर्य हुआ कि गांधीजी अछूतों को मिल रहे पृथक निर्वाचक मंडल और आरक्षित स्थानों के अधिकार से अतिशय रूष्ट थे। गांधी ने न केवल पृथक निर्वाचक मंडल का विरोध किया था बल्कि दलित वर्गों के लिए किसी भी प्रकार के विशेष प्रतिनिधित्व को भी अस्वीकार किया था। डॉ. आंबेडकर का मत था कि 'अगर कोई ऐसा वर्ग है जिसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विशेष राजनैतिक अधिकार देने की जरूरत है तो वह दलित वर्ग है। यह वर्ग अस्तित्व के कटु संघर्ष में अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता है। जिस धर्म के साथ उन्हें बाँध दिया गया है वह उन्हें सम्मानजनक स्थान देने के बजाय ऐसा कोढ़ी बना देता है जो कि सामान्य बातचीत के भी योग्य नहीं हैं। आर्थिक दृष्टि से भी यह वर्ग सवर्ण हिंदुओं पर पूरी तरह निर्भर है। हिंदू समाज ने इसके लिए अत्याचार से बचने के सारे रास्ते बंद कर रखे हैं।' (मधु लिमये : डॉ. आंबेडकर एक चिंतन, पृष्ठ-42)

डॉ. आंबेडकर भारतीय स्वतंत्रता के पक्षधर और समर्थक थे और गांधीजी से वर्ण और जाति के अनेक मुद्दों पर सहमत न होते हुए भी गांधीजी के नेतृत्व के महत्व को समझते थे। इसीलिए अछूतों को मिल रहे अधिकारों को छोड़ते हुए गांधीजी के प्राण बचाने के लिए उन्होंने **'पूना पैक्ट'** पर हस्ताक्षर किए। गांधीजी द्वारा **'पूना पैक्ट'** के समय किए गये वायदे निभाए नहीं गये। धर्म और कथित हिंदू असंवेदनशीलता तथा निष्ठुरता को देखकर डॉ.आंबेडकर बहुत दुखी हुए और हिंदू धर्म में रहते हुए अछूतों की स्थिति में कोई सुधार होने अथवा हिंदु सवर्ण मानसिकता बदलने का कोई चिह्न दिखाई न देने के कारण 1935 में येवला कान्फ्रेंस में डॉ. आंबेडकर ने हिंदू धर्म छोड़ने की घोषणा की थी।

दलित चेतना आंदोलन द्वारा अभिव्यक्त सामाजिक समानता, स्वतंत्रता और सम्मान को हासिल करने की अछूत समाज की तीव्र इच्छा को महसूस करके स्वाधीनता आंदोलन के प्रमुख नेताओं को अस्पृश्यता निवारण का कार्यक्रम राष्ट्रीय आंदोलन के एजेंडे पर रखना पड़ा। वैसे भी गांधी जी की यह चाह रही कि वे अछूतों के इकलौते नेता कहलाए। उनका यह कथन इस बात की पुष्टी करता है 'मैं जन्म से अछूत न होते हुए भी कर्म से अछूत हूँ। मेरा दावा है कि मैं अछूत समझे जाने वाले लोगों का प्रतिनिधित्व कर सकता हूँ। स्पृश्य तथा अस्पृश्यता का भेद निर्माण होते ही उन भाइयों के उन्नति की आशा ही नहीं की जा सकती और इसलिए उनके पृथक निर्वाचन क्षेत्र का मैं जी-जान से विरोध कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि हिंदू धर्म से अस्पृश्यता का कलंक साफ धुल जाय। इसी के लिए मैं जी रहा हूँ।'

अस्पृश्यता को कलंक मानते हुए गांधीजी ने इसके निर्मूलन हेतु ऐसे कार्यक्रम चलाए जो हिंदूओं के मन में अछूतों के प्रति मात्र करूणा, सहानुभूति जगाने वाले थे। अछूतों में अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति चेतना जागृत करने वाले नहीं थे, बल्कि अछूत जाति आधारित जिन पेशों को करने के लिए बाध्य थे, उसे भाग्य समझकर फल की इच्छा मन में धरें बिना कर रहे थे। गांधीजी इस बारे में यह कहते हैं **"कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता, काम की ओर देखने की दृष्टि बदलनी चाहिए।"** लेकिन वास्तविकता तो कुछ और ही है। वास्तविकतः अछूत जिन पेशों को करने के लिए मजबूर किए जाते रहे हैं, उन्हीं विशिष्ट पेशों को करने की वजह से उनसे घृणा और तिरस्कार किया जाता है, लेकिन गांधीजी की दृष्टि में **सभी पेशे एक समान है।** जातिभेद और पेशों के संबंधों को हिंदू धर्म ने जन्मना मानकर, उसे बदलने के अधिकार से निम्न जातियों को वंचित किया है। लेकिन गांधीजी इस के बारे में सोचने के लिए मानो तैयार ही नहीं थे। इसलिए जातिप्रथा का विरोध भी उन्होंने नहीं किया।

प्रेमचंद की कहानियाँ 'सद्गति' 'दूध का दाम' और 'ठाकुर का कुआं' पर गांधी जी के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। चेतना का उत्स इन कहानियों में नहीं है। बल्कि इसके स्थान पर स्थिति से समझौतापरक व्यवहार करने की ही अपेक्षा की गई है। जाति संघर्ष के अभाव में प्रेमचंद की रचना में अभिव्यक्त चेतना, जातिभेद नष्ट करने में बहुत कारगर नहीं हो पाती।

14.5 अछूत समस्या के प्रति प्रेमचंद का जुड़ाव और प्रतिबद्धता

कहानी पानी की समस्या को लेकर गहन चिंता में डूबे अछूत पति-पत्नी, जोखू और गंगी को लेकर शुरू होती है। जोखू और गंगी के अछूत होने के कारण ही पानी की समस्या से वे जूझ रहे है। *'जोखू ने लोटा मुंह से लगाया तो पानी में सख्त बदबू आयी।' "जोखू बोला - यह कैसा पानी है मारे बास के पिया नहीं जाता।" लम्बे समय से बीमार जोखू प्यास के मारे तड़प रहा था। गंगी प्रतिदिन शाम को पानी भर लिया करती थी। कुआं दूर था, बार-बार जाना मुश्किल था। कल वह पानी लायी तो उसमें बू बिल्कुल न थी, आज पानी में बदबू कैसी! लोटा नाक से लगाया तो सचमुच बदबू थी। ज़रूर कोई जानवर कुएँ में गिरकर मर गया होगा।'* गंगी के सामने पानी की समस्या जैसे मुंह फाड़े खड़ी हो गई। वह अन्य गरीब सवर्ण महिलाओं जैसी सवर्णों के कुएँ से पानी नहीं भर सकती। अछूतों को सवर्णों के कुएँ पर चढ़ने का अधिकार ही नहीं था। मगर सवाल यह है कि 'दूसरा पानी आवे कहां से?' यह हमें न भूलना चाहिए।' (कुछ विचार, 72-73) प्रेमचन्द ने यथार्थ को पहचाना और मुख्यतः उसे ही अभिव्यक्ति देना अपनी कहानियों का लक्ष्य समझा।

प्रेमचंद अछूतों की दयनीय आर्थिक दशा, उनकी निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा और हर रोज अस्पृश्यता के कारण अपमान जनक स्थितियों से गुजरने की पीड़ा को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। पानी के स्त्रोत ऊँची जातियों के अधिकार में होने और अछूतों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार बरता जाने के कारण अछूत, ठाकुर-राजपूत या साहू के कुओं से पानी नहीं ले सकते। जोखू के शब्दों में अछूतों की वास्तविक स्थिति को प्रेमचंद अभिव्यक्त करते है : *'ठाकुर के कुएँ पर कौन चढ़ने देगा? दूर से लोग डाँट बताएँगे। 'साहू का कुआँ गाँव के उस सिरे पर है, परन्तु वहाँ भी कौन पानी भरने देगा? और कोई कुआं गाँव में है नहीं।'* जोखू के इस बयान से यह साफ पता चलता है कि अछूतों की आर्थिक दशा ऐसी नहीं कि वे अपने लिए कुआं खुदवा सके, मजबूरन सवर्णों के आगे पानी के लिए गिडगिड़ाने के सिवाए उनके पास कोई अन्य विकल्प नहीं है। पानी जो मानव जीवन की नितांत जरूरत है, जिसके लिए एक इन्सान को बेबस होना पड़े, और मनुस्मृति के विधानों का पालन करने में सवर्ण समाज आज भी लज्जा महसूस न करें, अमानवीय अत्याचार करके जातिअंह की तुष्टि करें, यह शायद संपूर्ण संसार में धार्मिक कट्टरता का एक अकेला उदाहरण है।

गंगी इतना तो जानती थी कि खराब पानी पीने से बीमारी बढ़ जायेगी लेकिन अशिक्षा के कारण यह न जानती थी कि पानी को उबाल देने से उसकी खराबी जाती रहती है। बोली *'यह पानी कैसे पियोगे? न जाने कौन जानवर मरा है। कुएँ से मैं साफ पानी लाये देती हूँ।'* जोखू बहुत आश्चर्य में पड़ गया, 'लेकिन दूसरा पानी कहां से आएगा' गंगी कहती है *"दो दो कुएँ हैं, एक लोटा पानी न भरने देंगे।'* जोखू ने उस सामान्य यथार्थ की ओर संकेत किया जिस पर सबसे पहले प्रेमचंद की नजर पड़ी थी *'हाथ पांव तुड़वा आयेगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से।'* ऐसा क्यों होगा? क्योंकि *'ब्राह्मण देवता आशिर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे और साहुजी एक के पांच करने में लगे रहेंगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है? दर्द छोड़ें यहाँ तो* ***'मर भी जाए तो दुआर पर कोई झांकने तक नहीं आता। कंधा देना तो बड़ी बात है।'*** जोखू के इस कथन में सदियों की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। वह यह तो नहीं समझ पा रहा कि ऊँची

जातियाँ अछूतों के प्रति इस हद तक असंवेदनशील क्यों हैं, उनके दुख में शामिल होने, उनकी गरीबी को हटाने या उनकी मृत्यु पर भी कोई क्यों नहीं साथ आता? प्रेमचंद ने जोखू व गंगी के द्वारा इन प्रश्नों को पहली बार रचना के माध्यम से उठाकर अछूत जीवन की वास्तविकता से परिचित कराया है। अछूतों की एक गहन समस्या 'पानी' की है जिसकी ओर सबसे प्रथम ध्यान आकर्षित किया है।

स्वाधीनता के राजनीतिक एजेंडे पर छुआछूत की समस्या को प्रथम बार शामिल किया गया था क्योंकि डॉ. अम्बेडकर का दलित मुक्ति आंदोलन तब तक जोर पकड़ चुका था। स्वयं गांधीजी भी इस समस्या से अवगत हो चुके थे फिर भी डॉ. आंबेडकर पर मानसिक और राजनीतिक दबाव डालकर पूना पैक्ट द्वारा, अछूतों को मिले पृथक निर्वाचन अधिकार से वंचित कर दिया। अछूतों के प्रति गहरी सहानुभूति रखने वाले गांधी जी ने अछूतों को ऊपर उठाने के डॉ. आंबेडकर के प्रयासों को जबरदस्त बाधा पहुँचाई। बाद में अछूतों के साथ सहभोजन और आंतरजातीय विवाह को अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम का मुख्य मुद्दा बनाने वाले गांधीजी अछूतों के प्रति अपनी निर्ममता और असंवेदनशीलता और ब्राह्मणवादी मानसिकता का प्रदर्शन कर चुके थे, क्योंकि जातिव्यवस्था और वर्णव्यवस्था के वे कट्टर समर्थक रहे हैं।

गांधीवादी विचारों का प्रभाव तत्कालीन लेखकों की रचनाओं पर पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए छेड़े गए देशव्यापी संघर्ष के गांधी जी नेता थे। इस प्रभाव को हम प्रेमचंद, निराला, जैसे लेखकों की रचनाओं पर स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। जातिप्रथा और ऊँच-नीच भेदभाव पर कमजोर सी प्रतिक्रिया गंगी के मार्फत प्रेमचंद करते हैं, गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबंदियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा - *'हम क्यों नीच हैं? और ये लोग क्यों ऊँचे है?'* गंगी का गुस्सा केवल शब्दों में अभिव्यक्त होता है, यथार्थ में गंगी इनका मुकाबला नहीं कर पाती और अंततः ठाकुर के कुएं से गंगी का संघर्ष किए बिना भागना सीधे-सीधे सवर्ण आधिपत्य के सामने समर्पण दर्शाता है। क्योंकि 'ठाकुर का कुआँ' कहानी गंगी की ठाकुर के कुएँ से पानी लेने की कोशिश करने की घटना के इर्द गिर्द ही घुमती है। "गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबंदियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा" प्रेमचंद का यह कथन जातिप्रथा से उद्भूत छुआछूत की घिनौनी परंपरा के खिलाफ गंगी के मन में उठ रहे गुस्से को दर्शाती है, इसलिए अगला प्रश्न भी गंगी के द्वारा उठाया गया है 'हम क्यों नीच हैं? और ये लोग क्यों ऊँचे हैं?' जातिप्रथा के मूल कारणों पर कहीं न कहीं यहाँ चोट करने का प्रयास तो है लेकिन जिस धर्म के अधीन इस भेदभाव को मान्यता प्राप्त है उसके विरोध में लेखक ने चुप्पी साध ली है। धार्मिक आडंबर पर गंगी ने चोट की है *'ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं। यहाँ तो जितने हैं, एक से एक छटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमें ये करें।'* यहाँ यदि प्रेमचंद ब्राह्मणवाद और हिंदू धर्म की भी आलोचना करते तो कहानी में संघर्ष का तत्व उभर कर आता।

गंगी के इस कथन में यह सत्य छिपा है कि तथाकथित ऊँची जातिवालों को नीचता के किसी भी काम को करने मे शर्म नहीं महसूस होती। जिस वर्ग के पास सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सत्ता होगी, उन्हें ऐसे कार्यों से कोई भी परावृत्त नहीं कर सकता, ना ही रोक सकता है, क्योंकि इनके द्वारा किए गये अपराध को अपराध नहीं, बल्कि जन्मजात अधिकार माना जाता है। न्याय, धर्म, नीतिमूल्यों की सुरक्षा करने वाली संस्थाओं पर भी इन्हीं का ही वर्चस्व है। केवल कथित ऊँची जाति होने भर से इन्हें दूसरों पर अन्याय, अत्याचार करने और उनका शोषण करने का अधिकार प्राप्त है जिसे आज भी हम देखते हैं कि कथित ऊँची जाति के बड़े से बड़े अपराधी को कोई भी न्याय संस्था और राज्य जिसमें पुलिस, सरकारी तंत्र, कानूनी व्यवस्था सजा देने में कामयाब नहीं हो पाती। कुम्हेर का हत्याकांड इसका जीवंत उदाहरण है। जिसमें सारी दलित बस्ति को उसमें रह रहे दलित स्त्री , पुरूष, बच्चों सहित आग लगाकर राख के ढेर में तब्दील कर दिया था। आंध्रप्रदेश के चुंदुर में हुई दलितों की सामुहिक हत्याओं के लिए जिम्मेदार सवर्ण वर्ग कानूनी शिकंजे से बाहर

आज भी आज़ाद घूम रहा है, क्योंकि अछूतों की हत्याओं के समय चुंदुर की पुलिस सवर्णों के साथ ही हत्या के स्थान पर मौजूद थी। वहाँ की पुलिस, राजनीतिक सत्ता और न्याय संस्थाओं ने सवर्ण अत्याचारियों को बचाने में पूरा कमाल दिखा दिया। न्याय उन्हें नहीं मिला जो असहाय और अछूत थे। 'ठाकुर का कुआं' में तत्कालीन युग के सवर्ण वर्ग और ब्रिटिश तंत्र के अंतरंग संबंधों के इस घृणित चरित्र को प्रेमचंद ने ईमानदारी से उघाडा है। "अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिए की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद में मारकर खा गया। इन्हीं पंडित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है। यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है किस बात में हैं हमसे ऊँचे?" गंगी द्वारा उठाए गये सवाल तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियों की वास्तविकता पर एक करारी चोट है। क्या ब्रिटिशकालीन शासन व्यवस्था भी ब्राह्मणवाद के सामने इतनी पंगु थी कि न्याय के नाम पर वहाँ न्याय का मखौल उड़ाया जाता था? अथवा सामंतवादियों द्वारा ब्रिटिश शासन व्यवस्था के समर्थन के बदले उन्हें मिली हुई सुरक्षा थी। लेकिन गरीब, अछूत, मजदूर और किसान पर तो पुलिस और ब्रिटिश शासन का मानो सदैव कहर टूट पड़ता था। लगान न भरने पर खेत, घर बार निलाम हो जाते और अछूतों को बेगार न करने पर जान तक गंवानी पडती जैसे *"मंहगू को इतना मारा था कि महीनों खून थूकता रहा।'* और इसमें पुलिस बढ़चढकर पूंजीपति और साहुकारों, जमींदरों का साथ देती थी। तब जुआघर चलाते पंडित, चोरी की गई भेड डकारने वाले ठाकुर और घी में तेल की मिलावट करके बेचने वाले साहू को धोखाधड़ी अन्याय और अपराध करने पर भी, सजा न होने की छूट कैसे मिलती रहीं है? इन सभी सवालों के जवाब हमें धर्म और जातियों के कथित वर्चस्व के कारण सत्ताधारियों तथा न्याय व्यवस्था द्वारा अपनाई दोगली नीतियों में मिलेंगे। भवरीबाई पर सवर्ण पुरूषों द्वारा किए गए बलात्कार की घटना का निषेध अंतर्राष्ट्रीय मंच से सारे विश्व की महिलाओं ने एक साथ मिलकर किया था। भवरीबाई की अस्मिता की सांझी लड़ाई देश के महिला आंदोलन ने लड़ी थी। लेकिन राजस्थान की न्याय पालिका के एक पुरूष जज ने धर्म-जाति-वर्णवादी और नारी विरोधी निर्णय देकर भंवरीबाई पर हुए अत्याचार के लिए न्याय के बदले फिर अन्याय किया। यह अन्यायपूर्ण और जातिवादी निर्णय देते हुए कहा कि *'सवर्ण पुरूष किसी दलित स्त्री पर बलात्कार नहीं कर सकते, यह धर्मसंगत नहीं है।'* इस जाति अंहकार और पुरूष अहंकार से भरे जज के निर्णय ने देश की दलित महिलाओं को फिर एक बार न्यायपालिका के भेदभावपूर्ण व्यवहार के कारण न्याय से वंचित कर दिया। यह इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर रहे भारत में दलित महिला पर हुए जघन्य अत्याचार के प्रति न्यायपालिका द्वारा दिया गया भेदभावपूर्ण निर्णय था।

अछूतों के प्रति शासनतंत्र, न्यायपालिका और पुलिस कितनी असंवेदनशील और जातिवादी है प्रेमचंद की यह कहानी स्वाधीनता आंदोलन की पृष्ठभूमि में सामाजिक आर्थिक, धार्मिक स्थिति की सच्चाई को हमारे समक्ष खोल देती है। गंगी सोचती हुई कुएँ पर पहुँची, कुएँ पर किसी के आने की आहट हुई। तो गंगी की छाती धक-धक करने लगी। *'कहीं कोई देख ले तो गज़ब हो जाये।'*

'गंगी जानती है कि उसे किसी ने देख लिया तो उसका बचना मुश्किल है। एक घड़े पानी की कीमत जान गंवाकर चुकानी पड़ सकती है। उस स्थिति की कोई सवर्ण स्त्री क्या कल्पना कर सकती है? कि पानी जो जीवन की जरूरत है, उसके लिए अछूतों को इस कदर बेबसी का सामना क्यों करना पड़े? गंगी अभी कुएँ के पास तक भी नहीं पहुँची थी, पेड़ों की आड़ में छूपकर वह ठाकुर का आंगन खाली हो जाने का इंतजार करने लगी। इसी समय दो स्त्रियां आकर पानी भरने लगी।' जो आपस में अपना दुख भी बांट रही थी एक स्त्री ने दूसरी से कहा 'खाना खाने चले और हुक्म हुआ कि ताजा पानी भर लाओ। घड़े के लिए पैसे नहीं हैं। हम लोगों को आराम से बैठे देखकर जैसे-मरदों को जलन होती है। हां, यह तो न हुआ कि कलसिया उठाकर भर लाते। बस हुकुम चला दिया कि पानी लाओ, जैसे हम लौंडियां ही तो हैं।' दूसरी स्त्री ने पहली की व्यथा सुनकर, स्त्री की सामाजिक स्थिति को और अधिक स्पष्ट

किया। 'लौंडिया नहीं तो और क्या हो तुम? रोटी कपड़ा नहीं पाती? दस-पांच रूपये भी छीन झपटकर ले ही लेती हो और लौंडिया कैसी होती है?' पुरूषसत्तात्मक समाज में स्त्री की दोय्यम स्थिति पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। तथाकथित ऊँची जातियों में स्त्री अस्तित्व को नकारकर उसे केवल एक दासी अर्थात् गुलाम ही माना जाता है। रोटी, कपडा और आश्रय देने भर से स्त्री को पुरूषों के अधीन मानने जैसी सामंतवादी मान्यता हमारे समाज में आज भी मौजूद है। जो स्त्री शोषण को मान्यता देकर उसके व्यक्तित्व को नकारती है।

'गंगी पेड़ की आड में छिपी हुई यह सब देख व सुन रही थी। दोनों पानी भरकर चली गयीं तो गंगी पेड़ की छाया से निकली और कुएँ के जगत के पास आयी, बेफिक्रे चले गये थे। ठाकुर भी दरवाज़ा बंद करके अंदर आंगन में सोने जा रहे थे। गंगी ने क्षणीक सुख की सांस ली। किसी तरह मैदान तो साफ हुआ।' गंगी को इतनी सावधानी की जरूरत इसलिए पड़ रही थी क्यों कि अछूत स्त्री ठाकुर या किसी सवर्ण के कुएँ पर चढ़कर पानी भरने का साहस कर रही थी। किसी अछूत द्वारा नियम को तोड़ने पर हिंदू धर्म में इस अपराध के लिए बड़ी सख्त सजा का प्रावधान है। मनु स्मृति द्वारा निर्धारित जाति के कानून बड़े कठिन थे। गंगी की स्थिति उस राजकुमार से भी बदतर थी जो 'अमृत चुरा लाने के लिए जो राजकुमार किसी जमाने में गया था, वह भी शायद इतनी सावधानी के साथ और समझ-बुझकर न गया होगा।' *'उसने रस्सी का फंदा घड़े में डाला। दाएँ-बाएँ चौकन्नी दृष्टि से देखा, जैसे कोई सिपाही रात को शत्रु के किले में सूराख कर रहा हो। मगर इस समय पकड़ी गयीं तो फिर उसके लिए माफी या रियायत की रत्ती भर उम्मीद नहीं। अंत में देवताओं को याद करके उसने कलेजा मजबूत किया और घड़ा कुएँ में डाल दिया।'*

गंगी यह जानते हुए भी कि पकड़ी जाने पर उसे, उसकी इस धृष्टता के लिए माफ नहीं किया जायेगा बल्कि जातिप्रथा की परंपरा को तोड़ने जैसा अपराध करने और परंपरागत हिंदू धर्म की रूढियाँ, सवर्णों की सत्ता, वर्चस्व और श्रेष्ठत्व, ब्राह्मणवाद जैसी शक्तियों के खिलाफ जाने के कारण कठोर से कठोर दंड दिया जा सकता था। गंगी की पहल चाहे मजबूरी में ही क्यों न की गई है, लेकिन जातिव्यवस्था के खिलाफ जाकर पानी लेने का साहस था। घड़े को पानी में डालकर उसने बहुत ही आहिस्ते से उसे ऊपर खींचा जिससे कोई आवाज न हो और ठाकुर या अन्य कोई घर का सदस्य जाग न जाए। गंगी के इस संकल्प और मनोभाव को प्रेमचंद इन शब्दों में अभिव्यक्त करते है, *'घड़े ने पानी में गोता लगाया। बहुत ही अहिस्ता। ज़रा भी आवाज न हुई। गंगी ने दो-चार हाथ जल्दी जल्दी मारे। घड़ा कुएँ के मुंह तक पहुंचा। कोई बड़ा शहजोर पहलवान भी इतनी तेजी से उसे खींच न सकता था।'*

एक घड़े पानी के लिए गंगी जिस मानसिक व जातिगत दबाव को झेल रही थी और साथ ही पकड़े जाने पर उसके सामने आने वाली स्थिति से भी अवगत थी। इसलिए वह रस्सी को तेजी से खीचती चली गई शायद कोई पहलवान ही घड़े को इतनी तेजी से खींच सकता था। लेकिन गंगी द्वारा ली गई सावधानी,दिखाई गई तेजी और दृढ़ संकल्प का नतीजा कुछ नहीं निकला। क्योंकि ज्योंही 'गंगी झुकी कि घड़े को पकड़कर जगत पर रखे कि एकाएक ठाकुर साहब का दरवाजा खुल गया।' प्रेमचंद ने लिखा है 'शेर का मुंह इससे अधिक भयानक न होगा।' गंगी इस स्थिति से जूझने के लिए तैयार नहीं थी। वह तो चोरी छीपे एक घड़ा पानी लेकर चुपचाप चले जाना चाहती थी, इसीलिए उसने देर तक छीपकर सभी के चले जाने का इंतजार भी किया था। अब तक बंधा धैर्य टूट गया और 'गंगी के हाथ् से रस्सी छूट गयी। रस्सी के साथ घड़ा धड़ाम से पानी में गिरा। और कई क्षण तक पानी में हलकोरे की आवाजें सुनायी देती रही।'

गंगी में इतना साहस कहां से आता कि वह धर्म का रक्षक बनकर अपनी पूरी क्रूरता के साथ जातिप्रथा और अस्पृश्यता को बनाए रखने के लिए खड़े ठाकुर का डटकर मुकाबला करें। और प्रेमचंद स्वयं भी दलित अस्मिता आंदोलन से उत्पन्न दलित चेतना

के प्रभाव को गंगी द्वारा दिखाना नहीं चाहते थे। दलित संघर्ष चेतना का प्रभाव उस समय गाँवों और कस्बों तक पहुंचा भी नहीं था। भले ही राष्ट्रीय एजेंडे पर जातिप्रथा व अस्पृश्यता निर्मूलन को महत्व दिया जाने लगा था। इसलिए जाति संघर्ष के प्रति गंगी की कोई प्रतिबद्धता नहीं है। वह मानवीय अधिकारों की लड़ाई लड़ने से पहले ही भाग खड़ी हुई। संगठित होकर संघर्ष की चेतना के अभाव में यथास्थिति में लौटने के अलावा गंगी के पास कोई दूसरा पर्याय नहीं था। 'ठाकुर कौन है, कौन है' पुकारते हुए कुएँ की तरफ जा रहे थे और गंगी जगत से कूदकर भागी जा रही थी।' 'घर पहुंचकर गंगी ने देखा कि जोखू लोटा मुंह से लगाये वही मैला गंदा पानी पी रहा है।'

पानी के अथाह भंडार जो कि कुदरती संपत्ति है, जिस पर कथित ऊँची जाति का स्वामित्व हो और अछूत पानी की एक बूंद लेने का हकदार नहीं हो। यह तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति की वास्तविकता को उजागर करती है। एक वर्ग को सत्ता, संपति और श्रेष्ठत्व बहाल करके कथित निम्न वर्ग को अभाव, अपमान, को झेलते और अवहेलना को सहते रहने का पर्याय बनाए रखना कहां का न्याय है? जाति और वर्ण व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाती यह कहानी जितनी तत्कालीन समय में प्रांसगिक थी आज के संदर्भ में भी उतनी ही प्रासंगिक है।

14.6 स्त्री के वर्गगत और जातिगत शोषण का चित्रण

'ठाकुर का कुआं' में वर्णीत घटनाक्रम में एक छोटा प्रसंग आता है, जिसमें गंगी पेड़ों के पीछे छिपकर ठाकुर के कुएँ से एक घड़ा पानी लेने के लिए योग्य समय के इंतजार में हैं। इतने में वह देखती है कि दो स्त्रियां ठाकुर के कुएँ पर चढ़कर पानी खींच रही थी। वे आपस में स्त्री जाति के प्रति पुरूषों के अन्याय पूर्ण रवैये पर गुस्सा व्यक्त कर रहीं थीं। वे दोनों स्त्रियाँ बिना किसी डर या हिचकिचाहट के कुएँ पर चढ़कर पानी खींचने लगती हैं। यह स्थिति दर्शाती है कि वे सवर्ण अर्थात् स्पृश्य (जिनका स्पर्श अपवित्र नहीं) है, और उन्हें पूरा अधिकार है कि वे बेझिझक, बेरोकटोक और अविरोध पानी लेने की हकदार है। उनकी शिकायत पुरूष प्रधान व्यवस्था से है। जिसमें उनकी स्थिति एक लौंडी अर्थात् दासी या गुलाम की श्रेणी से बढ़कर नहीं। एक स्त्री अपने गुस्से को अभिव्यक्त करती है, 'जब ताजा पानी पीने का मन किया तो बस हुकुम चला दिया कि पानी लाओ, जैसे हम लौंडियां ही तो है।' स्त्री इस प्रकार के रवैये से काफी हद तक दुखी है, अपमानित भी महसूस करती है। लेकिन विरोध में कुछ कहने की कोशिश नहीं करती है। 'हम लोगों को आराम से बैठे देखकर जैंसे मरदों को जलन होती है।' स्त्री द्वारा कहा गया यह ईमानदार कथन संपूर्ण सवर्ण/स्पृश्य पुरूष वर्ग पर तीखी चोंट है। जिस प्रकार मालिक अपने नौकर से, दिए जाने वाले पारिश्रमिक (मजदूरी) के बदले में ज्यादा से ज्यादा श्रम लेना चाहता है। उसी प्रकार विवाह संस्था ने बहाल किया गया मालिकाना हक पुरूष अपनी स्त्री पर दर्शाते हैं। सामंतवादी और पूंजीवादी मानसिकता यहाँ पूरी तरह से हावी है, जिससे दोहरे शोषण की शिकार स्त्री, प्रतिरोध में सिवाय बडबडा ने के कुछ नहीं कर सकती। गुलाम जैसी स्थिति में रहने के लिए मजबूर कथित स्पृश्य स्त्री जीवन की यह त्रासदी है। समाज, परिवार, परंपरा, धर्म व सत्ता के झूठे नीति मूल्यों ने उसके अस्तित्व, अस्मिता और अधिकार को छीना है। स्त्री होने के कारण शोषण और आर्थिक शोषण के दोहरे मार को वह बराबर झेलती है। यही इस सामाजिक व्यवस्था की सच्चाई है। प्रेमचंद ने इस प्रसंग को नाटकीय ढ़ंग से कथानक में जोड़ा है, जिसके पीछे शायद उद्देश्य यही है कि गंगी के शोषण की तीव्रता को पाठक वर्ग समझ सकें। गंगी अस्पृश्य वर्ग की स्त्री है और उसका कुएँ को छूना भयंकर अपराध में शामिल है। यहाँ स्पृश्य स्त्रियों की और गंगी की स्थिति में जाति आधारित अधिकारों का फर्क हैं। गंगी इसलिए अपमानबोध, असुरक्षितता, अनिश्चितता, जातिगत उत्पीड़न की शिकार है, उसके इंसान होने को नकारकर उसके मानवीय अधिकारों का हनन हो रहा ह, क्योंकि वह अछूत है। जातिव्यवस्था चूँकि जन्मना ही जाति तय करती है इसलिए गंगी

का अछूत होना भी तय हो गया है, अब गंगी को यह अधिकार नहीं कि वह स्पृश्य जातियों के साथ उठे बैठे, उनके घरों के अंदर प्रवेश करे, पानी के स्रोतों को छुए क्योंकि उसके छूने से प्रत्येक वस्तु अपवित्र हो जाएगी। ब्राह्मणवाद की नजर में तो अछूत जानवरों से भी निम्न है। जहाँ जानवर पानी पी सकते हैं उस स्रोत को अछूत, छू भी नहीं सकते। हिंदू धर्म ग्रंथों में, स्मृतियों-पुराणों में इसी आधार पर सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अधिकारों का बटवारां स्पष्ट रूप से किया गया है। मनुस्मृति जो कि हिंदू धर्म का विधान मानी जाती है, में शूद्र, अतिशूद्र और स्त्री के जन्म के साथ उसके अधिकार, व्यवहार और नीति मूल्य निर्धारित किए गए हैं। वर्ष 1921-22 में महात्मा गांधी भी जाति के जन्मना तय होने से सहमत थे। उनकी मान्यता थी कि 'जाति-प्रथा एक प्राकृतिक विधान है। भारतवर्ष में उसे धार्मिक रूप दिया गया है। अन्य देशों में जहाँ जाति-व्यवस्था की उपयोगिता नहीं समझी गई, वहाँ की सामाजिक व्यवस्था बिखरी अवस्था में है और **इसी कमी के फलस्वरूप वे जातिव्यवस्था से होने वाले लाभ प्राप्त नहीं कर सकते,** जब कि भारत में वह मौजूद है। मेरे यही विचार हैं और मैं उनके विरूद्ध हूँ जो वर्णव्यवस्था को तोड़ना चाहते हैं।' (बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर संपूर्ण वाड्मय खंड-16 पृ.248)

जातिप्रथा एक प्राकृतिक विधान है, गांधीजी के इस भ्रमित करने वाले तर्क का विरोध करते हुए डॉ. आंबेडकर ने **'जाति प्रथा शासकों, शोषकों और सत्ताधारियों द्वारा निर्मित अर्थात् मानव निर्मित कानूनी विधान है'** जैसा वैज्ञानिक तर्क देकर कहा है 'जाति-व्यवस्था के पक्ष में श्री गांधी द्वारा दिया गया तर्क बहुत ही आश्चर्यजनक और ऐतिहासिक रूप में असत्य है। जिसने मनुस्मृति पढ़ी है, वह यह नहीं कह सकता है कि जाति-प्रथा प्राकृतिक है। मनुस्मृति क्या कहती है? परंतु जिसे मनुस्मृति के विषय मैं तनिक भी जानकारी है, जाति व्यवस्था को वह प्राकृतिक व्यवस्था नहीं मान सकता। मनुस्मृति में प्रकट होता है कि जाति विधान हिंदुओं का कानूनी विधान है जिसे बलपूर्वक चलाया जाता रहा है। आज तक यह जिन कारणों से बचा हुआ है वे हैं, (1) जनसाधारण को शस्त्र ग्रहण करने से वंचित रखना, (2) जनसाधारण को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखना, (3) जनसाधारण को संपत्ति के अधिकार से वंचित करना। जाति-प्रथा प्राकृतिक नहीं है इसे शासकों ने शोषितों पर थोपा है।' (बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर-संपूर्ण वाडमय, खंड-16 पृ.-298)

हजारों वर्षों से चली आ रही छुआछूत की परंपरा ने अछूत वर्ग को न केवल मूलभूत मानव अधिकारों से वंचित किया बल्कि इंसान के स्तर से भी नीचे गिरा दिया। इसी से 'ठाकुर का कुआं' केवल दलित जीवन की स्थिति को बयान करने वाली 'एक घटना मात्र' बन कर रह गई है। साहित्य सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम है, जो सामाजिक समानता स्थापना के संघर्षशील आंदोलन का रूप ले सकता है। लेकिन जातिभेद निर्मूलन के क्रांतिकारी दर्शन के अभाव में एक संवेदनशील कहानी विचार के स्तर पर बदलाव लाने में सफल नहीं हो सकी। गंगी का कुएं की जगत से कूदकर भागना, संघर्ष करने की, अपेक्षा उसके यथास्थिति में विश्वास होने और उसी की ओर लौटने का संकेत देती है। जोखू का वही गंदा, मैला पानी पीना भी इसी मूढ़ता, जड़ता और पलायनवादी दृष्टि को स्पष्ट करता है।

प्रेमचंद के 'ठाकुर का कुआं' पर डॉ. आंबेडकर के विचारों का प्रभाव दिखाई नहीं देता। 'चवदार तालाब' के मानव अधिकारों के संघर्ष का ऐतिहासिक महत्व है। हजारों वर्षों की गुलामी से मुक्ति के लिए उभरा यह वंचितों, शोषितों का अस्मिता का स्वर था। जिसकी गूंज प्रेमचंद जैसे प्रगतिशील, संवेदनशील और सजग रचनाकार तक पहुंची नहीं हो, ऐसा हो नहीं सकता। अछूतों के इस प्रथम संघर्ष को कोई रचनाकार अनदेखा नहीं कर सकता था। लेकिन गांधीवाद के प्रभाव ने रचनाकारों को अस्पृश्यता की समस्या को गांधीवादी दृष्टि से ही देखने पर मजबूर किया है। इसीलिए 'ठाकुर का कुआं' में जोखू और गंगी अपनी अस्मिता और मानव अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए प्रतिबद्ध नहीं दिखतें। बल्कि जातिवादी प्रवृत्तियों के समक्ष, ब्राह्मणवाद के

समक्ष समर्पण करते हुए दिखते हैं। क्योंकि गांधीवाद, आदर्शवाद और समर्पण सिखाता है। जन्मना प्राप्त स्थिति को बिना विरोध पूर्वजन्म के कर्मफल के रूप में स्वीकार करते हुए, भाग्य मानकर तीन कथित उच्च वर्णों की सेवा करने में जीवन की सफलता है, जैसी सीख देती है। जोखू और गंगी जातिवादी कट्टर प्रवृत्तियों के आगे झुकते हुए अपनी यथास्थिति में ही लौटने पर मजबूर दिखाए गए हैं। गंगी कुछ समय के लिए जातिव्यवस्था और शोषण के विरोध में खड़े होने का धैर्य जुटा पाती हैं। लेकिन ठाकुर के रूप में दमनकारी जातिवादी सत्ता के रूप में खड़े देखकर पलायन करती है। यथास्थिति में लौटकर जोखू और गंगी अस्पृश्यता की मार को झेलने के लिए विवश हो जाते हैं।

प्रेमचंद यदि गांधीवाद के स्थान पर आंबेडकरवाद को ग्रहण करते तो कहानी का अंत वैसा नहीं होता, जैसा 'ठाकुर का कुआं' का हुआ है। गंगी को ठाकुर का डटकर विरोध करते हुए, अपने अधिकारों के लिए संघर्ष, करते हुए चित्रित किया गया होता और जोखू को गंदा-मैला पानी पीते नहीं दिखाया होता। केवल समस्या का निर्देश करना मात्र ही अस्पृश्यता को समाप्त करने का कारगर उपाय नहीं है, इसे शायद प्रेमचंद ने गांधीवाद के प्रभाव में समझने में देर कर दी थी। इसलिए 'ठाकुर का कुआं' कहानी केवल दलित जीवन की स्थिति को बयान करने वाली एक घटना मात्र बनकर रह गई हैं। साहित्य सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम है, जिसकी समर्थ अभिव्यक्ति समानतामूलक समाज की स्थापना का एक संघर्षशील आंदोलन बन सकती है। लेकिन क्रांतिकारी दर्शन को आत्मसात करके उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति के अभाव में एक संवेदनशील रचना विचार के स्तर पर बदलाव लाने के प्रयास में असफल हो गई है।

14.7 सारांश

आपने 'ठाकुर का कुआं' कहानी के पाठ का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है। इस पाठ को पढ़ने के बाद आपके सामने कहानी के माध्यम से उठाई गई सामाजिक समस्या का एक संपूर्ण चित्र उभर आया होगा। प्रेमचंद ने तत्कालीन समय में भारतीय समाज की ज्वलंत समस्या जातिप्रथा से उत्पन्न छुआछूत जैसी अपमानजनक, मानवता विरोधी, जघन्य परंपरा की वास्तविकता को उघाड़ा है। जातिप्रथा को प्रश्रय देने वाली सामंति व्यवस्था की क्रूरता को चित्रित किया है। जोखू और गंगी अछूत है, इसलिए उन्हें सवर्णों के कुएँ से पानी लेने का अधिकार नहीं। अछूत जीवन की मूलभूत जरूरतों के लिए सवर्ण या तथाकथित उच्च मानी गई जातियों पर निर्भर है। सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जगहों में उनकी उपस्थिति निषेधाई मानी गई तथा संपत्ति प्राप्त करने व रखने के भी ये अधिकारी नहीं। आर्थिक उत्पादन की संपूर्ण व्यवस्था में इनकी भागीदारी केवल बेगारी करने वाले मजदूर मात्र की है। उत्पादन के साधनों पर अधिकार के अभाव में अछूत गरीबी की दयनीय स्थिति में पानी, अन्न से वंचित जीवन जीने के लिए बाध्य है। गंगी और जोखू के कथन में उनकी इस स्थिति की वास्तविकता चित्रित हुई है। जाति के श्रेष्ठ और कनिष्ठ होने के आधार पर सामाजिक सम्मान या अपमान, आर्थिक संपन्नता या अभाव, धार्मिक अधिकार या वंचना, राजनीतिक सत्ता अथवा गुलामी, मानवअधिकारों की प्राप्ति या वंचित होना निश्चित है। अछूत जोखू को पीने का पानी हासिल न होना तथा पानी की तलाश में गंगी का भयग्रस्त, शंकित, अपमानित स्थिति से गुजरना दलित जीवन की त्रासदी को अभिव्यक्ति देता है। ठाकुर के कुएँ से दो सवर्ण महिलाओं का बेहिचक, अधिकार पूर्ण विश्वास के साथ चढ़कर पानी भरना, और गंगी का पेड़ों की ओट में छिपकर ठाकुर के कुएँ पर चढ़कर पानी लेने के लिए घंटो इंतजार करना। अछूतों की सामाजिक स्थिति को स्पष्टतः बयान करता है। जातिप्रथा का उल्लंघन करने पर एक अछूत को मिलने वाले दंड की गंगी को जानकारी है। हाथ-पांव तोड़ने से लेकर मृत्युदंड तक की सजा मिल सकती है। उसका यह अपराध दंडनीय है, जबकि पंडित का अपने घर

को जुआं घर बनाने, ठाकुर द्वारा गरीब की भेड़ चुराकर खा जाने और साहू द्वारा घी में तेल की मिलावट करने जैसे अपराधों को अपराध नहीं माना जाता। बल्कि सवर्ण जातियों को जाति श्रेष्ठत्व के ऐवज में मिले अधिकारों के रूप में मान्यता ही मिली है। यह एक ऐसे समाज का यथार्थ चित्र है, जिसमें इंसान अंधेरे विवर में ढकेल दिया गया है, जहाँ से ऊपर उठने का कोई रास्ता नजर नहीं आता। प्रेमचंदकालीन अस्पृश्यता की समस्या को चौपन्न वर्षों की आजादी नष्ट नहीं कर पाई है। आज भी अछूत अस्पृश्यता के कारण अपमानबोध से ग्रसित हैं। गरीबी की स्थिति में अभावपूर्ण जीवन जीने के लिए विवश है। पानी के स्रोत अभी भी इनके छूने से अपवित्र होते हैं, यह तथाकथित उच्च वर्ग की मानसिकता में जस का तस बैठा हुआ है। चार वर्ष की अछूत धनम की आंख आज भी, उसी के गुरु द्वारा फोड़ दी जाती है, जब अछूत बालिका प्यास बुझाने के लिए सवर्णों के लिए रखे गए मटके से पानी पीना चाहती है।

14.8 प्रश्न/अभ्यास

1. अछूत गंगी को 'ठाकुर के कुएँ' से पानी लेने का अधिकार क्यों नहीं है? गंगी का अछूत होना व उसके अधिकारों का निर्धारण किस दर्शन का परिणाम है?
2. हिंदू धर्म द्वारा वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा की निर्मिति और उच्च निम्न के भेदभाव द्वारा अस्पृश्यता का समर्थन क्या अछूतों की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति को निर्धारित करती है?
3. भारतीय संविधान देश के प्रत्येक नागरिक को बराबरी का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, और शैक्षिणक अधिकार देता है। फिर भी दलित-अछूत मुलभूत मानवीय अधिकारों से क्यों वंचित है?
4. गंगी का चरित्र चित्रण कीजिए।
5. 'प्रेमचंद ने अस्पृश्यता की समस्या को गहराई से अभिव्यक्त किया है, लेकिन इसे खत्म किए जाने के लिए संघर्ष का कोई संकेत नहीं दे पाए हैं' इस कथन की विस्तार से चर्चा कीजिए।
6. अस्पृश्यता के कारण अमानवीय शोषण को झेल रहे अछूतों को इस स्थिति से मुक्त करने के लिए किस प्रकार के सामुहिक प्रयासों की आवश्यकता है?
7. एक अछूत बच्ची 'धनम' को पानी के घड़े को छूने के अपराध के कारण उसके शिक्षक की मार से एक आँख गंवानी पड़ी। इस अमानुषिक घटना पर 200-250 शब्दों में अपने विचार प्रकट कीजिए।

इकाई 15 पुरस्कार : जयशंकर प्रसाद

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 राष्ट्रीय भावना और व्यक्ति चेतना

15.3 इच्छा और स्वीकृत मूल्यों का संघर्ष

15.4 मधूलिका का अंतर्द्वंद्व

15.5 दो मनोभावों का सामंजस्य

15.6 मधूलिका : सबल नारी चरित्र

15.7 पुरस्कार का शिल्प

15.8 सारांश

15.9 अभ्यास/प्रश्न

कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित 'पुरस्कार' कहानी का अध्ययन करेंगे। प्रेमचंद के समकालीन जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ जिस काल खंड में रची गई, कहानी के विकास की दृष्टि से वह अतीशय महत्व का काल था। देश में स्वाधीनता आंदोलन का जबर्दस्त जन–उभार आ चुका था और देश की क्रांतिकारी शक्तियाँ बहुत सक्रिय थी। ऐसे समय जब प्रसाद कहानी लेखन कर रहे थे तो क्या उनकी कहानियों में स्वाधीनता आंदोलन के जन उभार और देश की स्वाधीनता की आकांक्षा को अभिव्यक्ति मिली है अथवा नहीं, इसकी पड़ताल हम पुरस्कार कहानी के माध्यम से करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- जयशंकर प्रसाद की कहानी पुरस्कार में अभिव्यक्त राष्ट्रीय भावना और व्यक्तिचेतना को समझ सकेंगे;
- मधूलिका के अतर्मन में स्वीकृत मूल्य और इच्छा के बीच चल रहे संघर्ष पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- दो परस्पर विरोधी मनोभावों के सामंजस्य के उहापोह को अभिव्यक्त कर सकेंगे;
- एक सबल नारी के रूप में मधुलिका के चरित्र का चित्रण कर सकेंगे;
- पुरस्कार के शिल्प पक्ष की विशेषताओं को प्रकट कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

जयशंकर प्रसाद प्रेमचंद युग के एक महत्वपूर्ण कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। कहानी, कविता और नाटक में इनकी रचनात्मक सक्रीयता एक साथ दिखाई देती है। सन् 1910 में 'प्रेम–पथिक' के प्रकाशन से एक कवि के रूप में उदय के साथ सन् 1912 में कहानियों के संकलन 'छाया' से वे कहानीकार के रूप में भी प्रतिष्ठित हुए। उनकी कहानियों का अंतिम संकलन 'इंद्रजाल' उनके निधन से एक वर्ष पूर्व 1936 में

प्रकाशित हुआ था। काव्य और नाटक के साथ–साथ प्रसाद ने कहानी, उपन्यास एवं निबंध को एक विशिष्ट पहचान दी है। प्रसाद अंतर्मुखी प्रवृत्ति के लेखक थे किंतु अपने युग के प्रति वे उदासीन नहीं थे। उनकी रचनाओं में प्रेमचंद के लेखन में तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक हलचलों जैसी मुखर अभिव्यक्ति नहीं मिलती लेकिन देशव्यापी आंदोलन में उनकी हिस्सेदारी और प्रतिबद्धताएं भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त हुई हैं। भारतीय संस्कृति, इतिहास और दर्शन की उनकी गहरी समझ और अध्ययन सर्जनात्मक स्तर पर एक भिन्न दिशा की ओर मुखरित होता हुआ दिखाई देता है। उनके यहाँ यथार्थवाद का आग्रह नहीं दिखता। देश की पराधीनता से उपजी भारतीय जनता की हताशा और पीड़ा को अभिव्यक्त करने और अतीत के प्रति मुग्ध होकर भारत के गौरवगान को उसके निराकरण को वर्तमान स्थिति में ढूंढ़ने की अपेक्षा याद करते चलते हैं।

इस प्रकार प्रसाद की कहानियाँ घोर अतीतवाद से प्रभावित दिखती हैं। संस्कृत इतिहास की उनकी व्याख्या काफी हद तक संकुचित होने का प्रमाण देती रहती है। 'प्रसाद ने भारतीय इतिहास के मुस्लिम काल को लगभग नहीं के बराबर छुआ है। 'जहाँआरा' और 'गुलाम' जैसी कहानियाँ अपवाद मात्र है। यहाँ भी प्रसाद के रचनात्मक सरोकार भिन्न प्रकार के हैं। ऋग्वैदिक संस्कृति के प्रति उनके मन में गहरा आकर्षण और श्रद्धा का भाव है।' हिंदी कहानी : अस्मिता की तलाश – मधुरेश (पृ. 244)

प्रसाद जिस समय कहानियाँ लिख रहे थे वह स्वाधीनता आंदोलन के उत्कर्ष का काल था। देश में क्रांतिकारी आंदोलन सक्रीय था ऐसे में प्रसाद इन घटनाओं से पूरी तरह निर्लिप्त रहे हों ऐसा संभव नहीं था। स्वाधीनता की चेतना उनकी कहानियों में अभिव्यक्त जरूर हुई है लेकिन मुक्ति चेतना को इतिहास और संस्कृति तथा अतीत के साथ जोड़कर। इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक पात्रों को माध्यम बनाया है जिनके द्वारा जातीय अभिमान और राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रति कटिबद्धता को दिखाया गया है।

प्रसाद के कुछ अन्य कहानी संग्रहों में महत्वपूर्ण हैं 'प्रतिध्वनि' 1926, 'आंधी' तथा आकाशदीप क्रमशः 1929 और 1931 और 1931 में प्रकाशित हुए थे। उनके प्रसिद्ध नाटक हैं 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'।

पुरस्कार का केंद्रीय चरित्र मधूलिका है। उसके पिता सिंहमित्र ने युद्ध में कोशल की प्रतिष्ठा बचायी थी और स्वयं मधूलिका भी अपनी मातृभूमि से बहुत प्रेम करती है। वह अपने खेतों में अपना पसीना बहाकर मेहनत कर सुखपूर्वक जीवन बिता रही होती है कि एक राष्ट्रीय नियम उसे विचलित कर जाता है। कोशल के महाराज को एक दिन किसान बनना पड़ता था। वे एक चुने हुए खेत में बीज बोते थे और उस खेत का चौगुना मूल्य उसके स्वामी को राजकीय कोष से दे दिया जाता था। मधूलिका अपनी भूमि का मूल्य नहीं लेती। मगध का निर्वासित राजकुमार अरुण मधूलिका को महत्वाकांक्षा की सीढ़ी बनाना चाहता है। वह उसे राजा से दुर्ग के समीप की भूमि माँगने के लिए उकसाता है। वह भूमि मिल जाने पर अरुण वहाँ से दुर्ग पर आक्रमण की योजना बनाता है। वह सफल भी हो जाता लेकिन सहसा मधूलिका को याद आ गया कि वह कोशल के रक्षक वीर सिंहमित्र की कन्या है। वह अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए सन्नद्ध होती है। परिणामस्वरूप अरुण पकड़ा जाता है और महाराज मधूलिका से पुरस्कार माँगने के लिए कहते हैं। मधुलिका पुरस्कार स्वरूप में 'प्राणदंड' माँगती है और बंदी अरुण के बगल में जाकर खड़ी हो जाती है।

15.2 राष्ट्रीय भावना और व्यक्ति चेतना

'पुरस्कार' कहानी के लेख के पीछे जयशंकर प्रसाद की दृष्टि क्या थी इसे जानना हमारे लिए जरूरी है। स्वाधीनता आंदोलन के काल में देश के इतिहास और संस्कृति के प्रति गौरव और गरिमा की दृष्टि का विकास करना तथा अस्मिता की पहचान

कराना जिससे कि स्वाधीनता आंदोलन में जनसामान्य की ज्यादा से ज्यादा हिस्सेदारी बढ़ सके। जयशंकर प्रसाद की सोच के अनुसार स्वाधीनता आंदोलन के दौरान अपने इस इतिहास का स्मरण कराना निश्चय ही जनता में स्फूर्ति और प्रेरणा का संचार कर सकेगी। इस प्रकार की सोच का जनसामान्य पर कितना प्रभाव हुआ होगा यह निश्चित रूप से कहना मुश्किल है लेकिन पुनरुत्थानवादी दृष्टि के विकास द्वारा देश की स्वतंत्रता के लिए वातावरण निर्मिति का ही प्रयास दृष्टिगत होता है। इसी दृष्टिकोण से प्रसाद ऐतिहासिक पौराणिक कथाओं को उस समय के परिवेश की जरूरत के अनुसार ढालने की कोशिश करते दिखाई देते हैं।

जयशंकर प्रसाद के प्रथम संग्रह की अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक पृष्टभूमि पर रचित कहानियाँ है। लेकिन कहानियों को पढ़ने के बाद कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि इन कहानियों में जिस इतिहास और संस्कृति, गौरव को मुख्य आधार बनाया गया है वह वर्तमान काल में अर्थात् स्वाधीनता–आंदोलन के लिए वातावरण निर्मिति में बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही है। यह भी कह सकते हैं कि स्वयं प्रसाद का भी राष्ट्रीय संदर्भो में इसके उपयोग के प्रति विशेष आग्रह नहीं दिखता।

'पुरस्कार' का मूल्यांकन करते समय यह स्मरण रखना जरूरी है कि 'राष्ट्र' की जो अवधारणा आज है, वह इस कहानी के घटित होने के समय यथावत् नहीं थी। आज एक विशाल भूखंड में रहने वाले एक ही प्रजाति के निवासियों को राष्ट्र माना जाता है। जिनका इतिहास एक होता है और संस्कृति भी बहुत भिन्न नहीं होती। 'पुरस्कार' में जो कोशल राष्ट्र है, वह कुछ गाँवों का राज्य भर है, जिसका केन्द्र श्रावस्ती दुर्ग है। कभी कौशल एक बड़ा राज्य रहा होगा, लेकिन कहानी में अरुण जिस कोशल का अधिपति बनना चाहता है, वह एक छोटा–सा राज्य है। कहानीकार ने इस राष्ट्र का परिचय इस प्रकार दिया है –

"श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केंद्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रांतों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी इसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्णगाथाएँ लिपटी हैं।"

यहाँ अतीत की चर्चा से संकेत है कि इस राष्ट्र के लोगों का अपना एक गौरवशाली इतिहास है। इसके बावजूद यही लगता है कि 'पुरस्कार' कहानी का राष्ट्र या तो एक राज्य का बोधक है या फिर जन्मभूमि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मधूलिका को राष्ट्र–प्रेम विरासत में मिला है। इसीलिए अपनी भूमि ले लिए जाने पर वह दुखी तो होती है लेकिन उस नियम की अवज्ञा नहीं करना चाहती। उसका दुख है – *"आज मेरे स्नेह की भूमि पर मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुख से विकल हूँ ..... ।"* अरुण उसे उसकी जमीन वापस दिलवाने का आश्वासन देता है तो वह अपने व्यक्तिगत दुख पर राष्ट्रीय नियम को वरीयता देती है–

"नहीं वह कौशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं इसे बदलना नहीं चाहती – चाहे उससे मुझे कितना ही दुख हो।"

'प्रणय' एक व्यक्तिगत मूल्य है, जबकि देश–रक्षा एक सामाजिक दायित्व है। 'पुरस्कार' कहानी में एक समय ऐसा आया है, जब व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक महत्वपूर्ण दिखायी देता है। अरुण के प्रेम में मुग्ध और बेसुध मधुलिका अरुण के षडयंत्र का अंग बन जाती है। कौशल की पराधीनता के विषय में वह कुछ भी सोच–विचार नहीं करती। लेकिन निर्णायक क्षणों में वह गहरे द्वन्द्व का शिकार हो जाती है। इस द्वंद्व में देश–प्रेम और राष्ट्रीय–चेतना का पलड़ा भारी पड़ता है –

"श्रावस्ती – दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाये मगध कौशल का चिरशत्रु। ओह, उसकी विजय। कौशल नरेश ने क्या कहा था – 'सिंहमित्र की कन्या' सिंहमित्र कौशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है नहीं नहीं।"

वह सेनापति को अरुण के अभियान की सूचना देती है। राजा इस सूचना के लिए उसका आभार व्यक्त करते हैं – "सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है।" वह उसे पुरस्कार में अपनी निज की सारी खेती देने का प्रस्ताव करता है। लेकिन जयशंकर 'प्रसाद' के कथा चरित्र इतने सपाट नहीं है। मधुलिका के चरित्र की जटिलता फिर व्यक्त होती है। वह अपने सामाजिक दायित्व और राष्ट्रीय भावना का निर्वाह करने के बाद अपने निजी लगाव के लिए भी अपना समर्पण जताती है। 'सच्चा प्रेम वही है, जिसकी तृप्ति आत्मबलि पर हो निर्भर' – यह स्वच्छंदतावादी बोध इस कहानी के अंत में ध्वनित है। राष्ट्रीय–भावना और व्यक्ति–चेतना–दोनों का एक साथ सामंजस्य बैठाने का या दोनों के प्रति अपना समर्पण सिद्ध करने की शक्ति मधूलिका जैसे इने गिने चरित्रों में ही मिलती है और इस असाध्य को साधने का कोशल प्रसाद जैसे कथा–शिल्पी द्वारा ही संभव है।

15.3 इच्छा और स्वीकृति मूल्यों का संघर्ष

'पुरस्कार' में राष्ट्रीय भावना और व्यक्ति चेतना के टकराव को एक और रूप में देख सकते हैं। यह विधान और प्रवृत्ति का द्वंद्व भी है। 'विधान' अर्थात् मान्य और स्वीकृत मूल्य तथा प्रवृत्ति का मतलब व्यक्ति की अपनी इच्छा। कहानी में जिस 'राष्ट्रीय नियम' का उल्लेख है, वह विधान का एक अंग है। राजा जिस भूमि को चाहे ले सकता है और प्रजा के लिए बाध्यता है कि वह उसे शिरोधार्य कर ले। मधूलिका भी अनचाहे अपने 'स्नेह की भूमि' को राजा के अधिकार में जाते देखती है और उसका कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं करती है। लेकिन पुरस्कार में प्राप्त स्वर्ण मुद्राओं को न्यौछावर करके बिखेर देती हे, जिसका अभिप्राय यह है कि वह अपनी भूमि को बेचना नहीं चाहती। वह चकित राजा से कहती है – *"देव! यह मेरे पितृ–पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है। इसका मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"*

यह उद्धरण मधूलिका की 'प्रवृत्ति' को रेखांकित करता है, जबकि 'विधान' की कठोरता मंत्री के कथन में व्यक्त हुई है।

"अबोध, क्या बक रही है राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि का चौगुना मूल्य है, फिर कोशल का यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तुम राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना।"

प्रसाद के कथा चरित्र एकदम विद्रोही और व्यवस्था – विरोधी नहीं साबित होते। लेकिन वे अपनी असहमति को सांकेतिक रूप में अभिव्यक्त करते हैं। 'आकाश दीप' की चंपा सबल और समृद्ध बुधगुप्त के विवाह–प्रस्ताव को अस्वीकार करती है, 'देवस्थ' में सुजाता –
धर्म–शासन' और 'वासना तृप्ति' के द्वंद्व को रेखांकित करती है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में प्रसाद ने राजा और प्रजा के रिश्ते को पर्वत–शिखर और कोमल लताओं के प्रतीक से व्यक्त करते हुए व्यंग्य किया है कि कठोर शिखर के चरणों में लोटना लताओं की नियति है। यह नियति मधूलिका की भी है। लेकिन वह भूमि के बदले में दी जाने वाली मुद्राएँ अस्वीकार कर अपना विरोध दर्शाती है। वह राजकीय नियम की मर्यादा नहीं तोड़ती, लेकिन मूल्य न स्वीकार करके वह अपनी स्वाभिमानी प्रवृत्ति की रक्षा का प्रयास भी करती है। उसके अनुसार

"महाराज को भूमि समर्पण करने में मेरा कोई विरोध न था और न है, किंतु मूल्य स्वीकार करना असंभव है।"

यहीं मधूलिका जब अरुण के समझाने पर राजकीय नियम के तहत अपनी भूमि के मूल्य–स्वरूप सुरक्षा दृष्टि से महत्व की जमीन राजा से मांगती है तो इसके पीछे प्रेम

में कुछ भी कर गुजरने की एक प्रेममुग्धा तरुणी के मनोभावों की अभिव्यक्ति है। अरुण के प्रति उसका लगाव उसे अपने पूर्वजों की भूमि का मूल्य लेने को विवश कर देता है। कहानी का अंत 'प्रवृत्ति' के दबाव और शक्ति का सूचक है। राजा के पक्ष से देखें तो वहाँ भी 'प्रवृत्ति' और 'विधान' का द्वंद्व है। राजा जानता है कि मधूलिका जिस जमीन को माँग रही है, वह उसके राज्य की सुरक्षा के लिहाज से महत्वपूर्ण है। लेकिन वह मधूलिका की प्रार्थना को स्वीकार कर लेता है। प्रार्थना स्वीकृत होने का एक कारण मधूलिका का 'सिंहमित्र की कन्या' होना है। लेकिन मुख्य कारण राजकीय नियम का पालन माना जा सकता है।

'पुरस्कार' कहानी में घटनाएँ उतनी प्रधान नहीं हैं, जितनी भावनाएँ और मूल्य–मर्यादाएँ, जिनका आपसी संघर्ष कहानी के 'कथ्य' को सघन और प्रखर बनाता है। इनमें भी राष्ट्रीय भावना और व्यक्ति चेतना का तनाव कई रूपों में व्यक्त हुआ है–

- 'पुरस्कार' कहानी में राष्ट्र की अवधारणा उसके आधुनिक अर्थ से पूर्णतः मेल नहीं खाती। इसमें 'राष्ट्र' कुछ संकुचित अर्थ में पितृ–पितामहों के देश और जन्म–भूमि के रूप में है। कुछ थोड़े से किलों और गाँवों का सम्मिलित रूप इसमें 'कोशल' राष्ट्र के रूप में है। इसकी राष्ट्रीयता मगध की राष्ट्रीयता से अलग–थलग है।

- जिस युग की यह कहानी है, उस काल में 'राज्य' के लिए प्राण देना स्वदेश–प्रेम का चरम उत्कर्ष माना जाता था। समाज और राज्य की ओर से ऐसे व्यक्ति को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। मधूलिका भी सिंहमित्र की कन्या होने का गर्व अनुभव करती है।

- जब व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ प्रबल होती हैं, जब वह कभी–कभी समाज और राष्ट्र की चिंता नहीं करता। मधूलिका भी अरुण के प्रेम–प्रवाह में अपना सामाजिक दायित्व भूल जाती है। लेकिन पिता के बलिदान का स्मरण उसे देश के प्रति विश्वासघात से बचा लेता है।

- इस कहानी की यह विशेषता है कि सपाट और उग्र राष्ट्रीय भावना को गौरवान्वित करना इसका लक्ष्य नहीं है। मधूलिका अपनी जन्मभूमि तो बचाती ही है लेकिन अपने 'प्रेम' की रक्षा भी करती है। वह स्वयं प्राण देने के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

- इस कहानी में राष्ट्रीय भावना और व्यक्ति चेतना के तनाव को 'विधान' और 'प्रवत्ति' के द्वंद्व के रूप में देखा जा सकता है। 'विधान' और 'प्रवृत्ति' में सामंजस्य बैठाने और दोनों का ही निर्वाह करने की कोशिश ने इस कहानी को विशिष्ट बना दिया है।

15.4 मधूलिका का अंर्तद्वंद्व

मधूलिका कभी कोशल के प्रति अपने अनुराग की ओर झुकती है तो कभी प्रेम का वह पक्ष प्रबल हो जाता है जो अरुण से संबंधित है। द्वंद्व की स्थिति अरुण के प्रति प्रेम को लेकर भी है। मगध का राजकुमार अरुण प्रथम दर्शन में ही मधूलिका के प्रति आसक्त हो जाता है और उससे अपना प्रणय–भाव निवेदन कर देता है "मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ।" मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती लेकिन मधूलिका को अपनी हैसियत का ध्यान है। वह वर्ग भेद की खाई से परिचित है "राजकुमार! मैं कृषक बालिका हूँ। आप नंदन बिहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरे स्नेह की भूमि पर मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुख से निकज हुँ। मेरा उपहास न करो।"

यह उद्धरण बताता है कि प्रणय का प्रार्थी अरुण उसी वर्ग का है, जिसने मधूलिका की 'स्नेह की भूमि' को छीन लिया है। अतः उस वर्ग के व्यक्ति के प्रति विकर्षण स्वाभाविक है। इसलिए मधूलिका अरुण के प्रति कठोर बनती है। प्रसाद की कहानियों में विकर्षण से आकर्षण और घृणा से प्रेम की जुगलबंदी प्रायः मिलती है। 'मधूलिका सामंत वर्ग' से, उसकी मानसिकता से घृणा करती है, लेकिन अरुण एक युवा के रूप में उसे अच्छा लगता है। अतः उसका तिरस्कार करके वह स्वयं भी कम आहत नहीं होती – *"चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मूधलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत नहीं हुई उसके हृदय में टीस–सी होने लगी।"*

मधूलिका के हृदय की यह 'टीस' स्थाई पीड़ा बन जाती है। घोर अभाव का जीवन जीते हुए इस पीड़ा का नुकीलापन बढ़ जाता है। उसका मन कई बार पश्चाताप करता है कि उसने सौभाग्य का तिरस्कार क्यों कर दिया। यहाँ उसकी अपनी वास्तविक स्थिति–नियति, उसके सुख–स्वप्न से टकराती है। उसका द्वंद्व, उसका असमंजस शीघ्र एक किनारा पा जाता है। उसे लगता है कि यह राजकुमार की प्रतीक्षा कर रही है, उसे प्रेम करने लगी है। कहानीकार ने उसकी व्यग्रता और भावनात्मक उतार–चढ़ाव को बहुत सलीके से बयान किया है।

"आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। असहाय दारिद्रय की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया था। मगध की प्रसाद माला के वैभव का काल्पनिक चित्र, उन सूखेउंठलों के रंधों से नीचे नभ में – बिजली के आलोक में नाचता हुआ दिखाई देने लगा।"

मधूलिका एक सरल हृदय, मेहनती तरुणी है, जो अपने खेतों में काम करके अपने जीने भर के लिए अनाज उगाती है। वह अपनी इस स्थिति से संतुष्ट है। उसके मन में राजसी वैभव के प्रति कोई लगाव भी दिखाई नहीं देता। अपने कर्तव्य को वह भली भांति जानती है। इसलिए राजाज्ञा की वह अवहेलना नहीं करती बल्कि राजा द्वारा ली गई उसकी भूमि के बदले में दिए जा रहे मूल्य को भी वह स्वीकार करती है। वैभव या पैसे के प्रति उसके मन में कोई लाभ नहीं है, यह जानते हुए भी कि मुद्रा और भूमि के बिना उसके लिए जीवन कठिन हो जाएगा। अभाव का सामना करना पड़ेगा। लेकिन अपने देश के प्रति प्रेम की भावना उसके लिए सर्वोपरी हो जाती है।

भोली–भाली देशप्रेमी कृषक कन्या के रूप में मधूलिका की छवि हमारे सामने प्रकट होती है। दूसरी ओर अरुण जो एक सामंत है और साम्राज्य को फैलाने की अपनी आकांक्षा को वह महत्वपूर्ण समझता है। जिसके लिए एक भोली–भाली कृषक कन्या का उपयोग करने में उसे कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं होती। प्रेम का प्रदर्शन करना, आश्वासन देना या विश्वास पैदा करना उसके संस्कार और स्वार्थ का अविभाज्य हिस्सा है। ऐसी स्थिति में अपने स्वार्थ के लिए मधूलिका का वह बड़ी चालाकी से उपयोग कर लेता है। इसके विपरीत मधूलिका एक मेहनतकश मजदूर कृषक कन्या है। जो स्वभावतः सामंतवर्ग का तीरस्कार करती है। सामंतवादी सोच और प्रवृत्तियों का ही तो वह शिकार हुई है। एक राजा ने केवल अपनी परंपरा का निर्वाह करने हेतु उसके खेत को कुछ मुद्राओं के मूल्य के ऐवज में अपने अधिकार में ले लिया है। यहाँ पर कृषक समाज या व्यक्ति की इच्छा–अनिच्छा को कोई महत्व नहीं दिया गया। केवल राजाज्ञा को स्वीकार करना ही जनता का कर्तव्य बताया जाता है। मधूलिका द्वारा विरोध न करना यही दर्शाता है कि यदि वह विरोध करके अपनी भूमि बचाना चाहती, तो वह दंड पाती।

इससे भी महत्वपूर्ण है कि अपने देश या मातृभूमि के लिए असीम प्रेम में वह उसके समक्ष आने वाले कठोर भविष्य के प्रति भी उदासीन हो जाती है। उस समय केवल देशप्रेम और अपने कर्तव्य के प्रति उसका समर्पण महत्वपूर्ण है। जिस काल की यह कहानी है उस काल में राज्य के लिए प्राण देना या त्याग करना सहज प्रवृत्ति मानी जाती थी। जिसे ही स्वदेश–प्रेम या भक्ति कहा जाता रहा। लेकिन इसके पीछे के सत्य को कहीं भी उजागर न होने देने की कोशिश भी की जाती रही।

अरुण के साहचर्य में रहकर मधूलिका वैभव के काल्पनिक आंनद को महसूस करती है। उसका द्वंद्व शमित लगता है। प्रिय के प्रेम का प्रभाव उस पर हावी हो जाता है। लेकिन जब अरुण अपने अभियान पर जाता है, तब उसका द्वंद्व नये सिरे से परवान चढ़ता है। इस बार द्वंद्व 'कल्पना' और 'यथार्थ' का नहीं है। अब टकराहट 'प्रियतम–प्रेम' और 'देश–प्रेम' के बीच है। इस महत्वपूर्ण क्षण को प्रसाद ने विस्तार से व्यक्त किया है।

"उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधूरिता नष्ट हो गई। जितनी सुख–कल्पना थी, वह अंधकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो फिर सहसा सोचने लगी, वह क्यों सफल हो श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाए।"

15.5 दो मनोभावों का सामंजस्य

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मधूलिका केवल प्रेमवश अरुण के अभियान को अपना समर्थन नहीं देती है, अपनी स्नेह–भूमि छिन जाने का भय भी उसके मन में है। इस संदर्भ में डा. रामदरश मिश्र का विश्लेषण सटीक जान पडता है –

"..... जब एकाएक उसमें अपने साम्राज्य के प्रति कर्तव्य–बोध जागृत होता है तो उसके प्रेम से लिपटी प्रतिक्रिया की ईर्ष्या छिटक कर दूर जा पड़ती है और देश–प्रेम तथा प्रियतम–प्रेम का द्वंद्व–बिंदु तीव्रता से आलोकित हो उठता है। इस द्वंद्व–बिंदु में ऊपर–ऊपर कर्तव्यबोध देश–प्रेम विजयी होता हुआ दिखाई पड़ता है, किंतु भीतर–भीतर दोनों का तनाव चलता रहता है" हिंदी कहानी एक अंतरंग पहचान, (पृष्ठ 20)। मधूलिका के भीतर चल रहे इस दुहरे प्रेम के तनाव की अभिव्यक्ति कहानी के अंतिम चरण में होती है। पाठक को इस अंतिम पंक्तियों से ऐसा लग सकता है कि कर्तव्यबोध की भावना पर प्रेम की भावना भारी पड़ रही है –

"राजा ने कहा – मेरी निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।"

मधूलिका ने एक बार बंदी अरुण की ओर देखा। उसने कहा "मुझे कुछ न चाहिए।"

अरुण हँस पड़ा।

राजा ने कहा–नहीं मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।

"तो मुझे प्राणदंड मिले – कहती हुई वह बंदी अरुण के पास जा खड़ी हुई।"

इस पंक्तियों में 'तो मुझे प्राणदंड मिले' से संकेत है कि देश के प्रति कर्तव्यबुद्धि और प्रियकर के प्रति प्रेम, इन दोनों ही शक्तिशाली मनोभावों का द्वंद्व अंततः सामंजस्य में परिणत हो गया है।

जहाँ तक पात्रों के द्वंद्व का प्रश्न है, आश्चर्यजनक रूप से मधूलिका का प्रियपात्र अरुण किसी तरह के असमंजस में नहीं पड़ता है। उसका चरित्र शुद्ध रूप से सामंती है। वह मधूलिका के क्षोभ–भाव और प्रणय–भावना को उभार कर अपनी स्वार्थ–सिद्धि करना चाहता है। वह उसे राज सिंहासन पर बैठा देने का प्रलोभन देता है –

"युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कर सकी ना भी नहीं/अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरंत बोल उठा – *'तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से पण लगा कर मैं तुम्हें इसी कोशल –सिंहासन पर बैठा दूँ।"*

कहानीकार ने अरुण को इस बात के लिए कहीं भी द्वंद्वग्रस्त नहीं दिखाया है कि वह एक भोली–भानी किशोरी का इस्तेमाल अपने स्वार्थ के लिए क्यों कर रहा है कोशल

के महाराज को एक निर्णायक बिंदु पर ठिठकता हुआ अवश्य दिखाया गया है, जब मधूलिका उनसे अपने खेत के बदले सामरिक महत्व की भूमि चाहती है तो वे राज्य–हित को ध्यान में रखकर उसकी याचना को ठुकराना चाहते हैं। लेकिन तभी उन्हें याद आ जाता है कि मधूलिका तो कोशल की रक्षा करने वाले सिंहमित्र की कन्या है और वे उसे वह भूमि प्रदान कर देते हैं।

15.6 मधूलिका : सबल नारी चरित्र

प्रसाद के संपूर्ण साहित्य में नारी का तेजस्वी, सकारात्मक और सबल रूप व्यक्त हुआ। श्रद्धा, देव–सेना, ध्रुवस्वामिनी, चंपा, मालविका आदि नारी पात्र पुरुष पात्रों की तुलना में अधिक सशक्त हैं। 'पुरस्कार' में भी कहानीकार ने मधूलिका के चरित्र को ही प्रयत्नपूर्वक संवारा है। उसी के द्वंद्व, उसी का स्वाभिमान और उसी का क्षोभ संपूर्ण कहानी को आच्छादित किए हुए है। कहानी का चरमबिंदु उसी के निर्णय पर टिका है। मधूलिका को साहस और दृढ़ता विरासत में मिली है। इसी के बूते पर वह राजा की स्वर्ण मुद्राएँ उसी पर न्यौछावर कर देती है। राजा का अनुग्रह न स्वीकार करके वह दूसरे के खेतों में काम करके अपना जीवन–यापन करती है। कहानीकार दर्शाता है कि उसकी तेजस्विता के पीछे श्रम का ठोस आधार है और उसका सौंदर्य भी कठोर परिश्रम से निखरा है।

"कठोर परिश्रम से जो रूखा सूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कांति थी। आसपास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी।"

अरुण के मोहपाश में वह कुछ देर के लिए उचित–अनुचित का भेद भूल जाती है, लेकिन उसका विवेक उसे शीघ्र ही सावधान कर देता है – *"सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है"* वह असह्य वेदना से भर उठती है और सेनापति को अरुण के आक्रमण से अवगत करा देती है। कहानी के अंतिम हिस्से में हम देखते हैं कि वह बलिदान का साहस भी रखती है। अरुण के साथ ही प्राण दंड का पुरस्कार माँग कर वह, जैसे अरुण के साथ अपने विश्वासघात का प्रायश्चित कर रही है।

15.7 पुरस्कार का शिल्प पक्ष

खड़ी बोली की विकास यात्रा की शुरूआत में भाषा के दो मॉडल भारतेंदु हरिश्चंद्र और राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद के रूप में सामने आए हैं। हिंदी में भारतेंदु की भाषा–परंपरा ही मुख्यधारा बनकर आगे स्वीकृत हुई। प्रसाद की रचनाओं पर भारतेंदु की भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कुछ आलोचकों को लगता है कि प्रसाद की कहानियों में तत्सम शब्दावली की प्रधानता संप्रेषणीयता में बाधा उत्पन्न करती है। वस्तुतः प्रसाद ने जिस बीते हुए कल की घटनाओं और चरित्रों को अपनी कहानियों में आत्मसात् किया है, उसकी अभिव्यक्ति आज की बोलचाल वाली भाषा के माध्यम से संभव नहीं है।

'पुरस्कार' में भाषा के दो रूप मिलते हैं। जहाँ प्रकृति के सौंदर्य का अंकन है भाषा अधिक संस्कृतनिष्ठ, अधिक काव्यात्मक और बिम्बात्मक हो गई है। ऐसे स्थलों पर लगता है कि छायावादी कविता का कोई अंश गद्य–खंड के रूप सामने है। कहानी का प्रारंभिक अंश इस संदर्भ में द्रष्टव्य है–

"आर्द्रानक्षत्र; आकाश में काले–काले बादलों की घुमड़ जिसमें देवदुंदुभी का गंभीर घोष। प्राचीन के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण–पुरुष झांकने लगा – देखने लगा महाराज

की सवारी। शैलबाला के अंचल में समतल उर्वरा–भूमि से सोंधी बास उठ रही थीं। नगर तोरण से जय–घोष हुआ।"

इस अवतरण में 'निरभ्र', 'प्राची', 'देवदुंदुभी', 'शैलबाला', 'उर्वरा', 'तोरण', 'घोष' आदि शब्दों के अर्थ से अपरिचित पाठक के लिए इस 'वर्णन' के मर्म तक पहुँचना संभव नहीं है। लेकिन इसी अवतरण में 'बादलों', 'घुमड़', 'सवारी', 'बास' आदि शब्दों की उपस्थिति बताती है कि प्रसाद भाषा को यांत्रिक ढंग से तत्सम–प्रधान नहीं बनाते हैं। कहानी में अन्यत्र भी 'भिन्न माधवी–लता', 'सिंधु देश का तुरंग', 'चामर के शुभ्र आंदोलन' पद भी तत्सम प्रधानता की पुष्टि करते हैं। भाषा का एक अन्य रूप भी 'पुरस्कार' में प्रयुक्त है, जो बोलचाल की भाषा के बहुत निकट का है और सामान्य पाठक को समझने में आसान है। कुछ उदाहरण देखें।

1. 'वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी–सूखी खकर पड़ जाती'।
2. 'उतनी ही भूमि, दूर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि! वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।'

भाषा चाहे जैसी हो, उसमें निहित अर्थ और बिम्ब को समझने की क्षमता भरपूर है। मधूलिका के संशय को व्यक्त करने के लिए कहानीकार ने लिखा है – 'पथ अंधकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निबिड़ तम से घिरा था।' आगे इसी संशय और असमंजस के अंधकार में निर्णय की दिशा को 'आलोक' दिखाई देने से व्यंजित किया गया है –

"उसकी आंखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अंधकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा।"

प्रसाद की कथा–भाषा कम शब्दों में बहुत कुछ अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है। इसलिए स्थूल और सपाट कथन 'पुरस्कार' में कम मिलते हैं। जहाँ अनुभव को एक निर्णयात्मक रूप दिया गया है, वहाँ अवश्य भाषा कुछ स्थूल और सपाट हो गई है –

"जीवन से सामंजस्य बनाए रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परंतु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती–घटती रहती है।"

काव्यात्मकता का स्पर्श : प्रसाद का कवि रूप उनकी गद्य–रचनाओं में बार–बार उभरता है। प्रकृति–चित्रण के अतिरिक्त पात्रों की मानसिकता के वर्णन में भी अलंकरण और बिम्बात्मकता का प्रयोग देखा जा सकता है। सोती हुई मधूलिका को जब अरुण देखता है तो उसे लगता है – "एक छिन्न माधवीलता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकलित थे, भ्रमर निस्पंद।" मधूलिका की निराशा को व्यक्त करने के लिए कहानीकार ने एक नए उपमान का चुनाव किया है। यह अप्रस्तुत कोई दूर की कौड़ी न होकर जीवन का एक परिचित चित्र है।

"खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की संध्या में जुगनू पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है वैसे ही मधूलिका, 'अभी वह निकल गया' मन ही मन कह रही थी।"

इसी प्रकार 'उसकी कल्याण–कामना साशंक थी' और 'मन में प्रसाद का अंधड़ बहने लगा' आदि वाक्यों में परिचित उपमान और बिम्ब भाषा की शक्ति को प्रमाणित करते हैं।

नाटकीय शिल्प विधि का उपयोग : प्रसाद की कहानियों की संरचना पर विचार करते हुए देखा गया है कि कुछ कहानियों में 'सुक्ष्म संवेदना' का चित्रण काव्यात्मकता और नाटकीयता के साथ है। 'पुरस्कार' इसी प्रकार की कहानी है। कम से कम दो अवसरों पर नाटकीयता का बहुत सधा हुआ उपयोग हुआ है। मधूलिका तीन वर्ष पहले अरुण से हुई भेंट को 'पूर्वदीप्ति' के सहारे दुहराना चाहती है। वह अरुण के बारे में

सोच रही होती है कि द्वार पर एक पथिक का आगमन होता है। वह द्वार खोलकर चकित भाव से राजकुमार अरुण को खड़ा देखती है – 'एक क्षण के बाद सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई, "इतने दिनों के बाद आज फिर।" यहाँ मधूलिका के साथ–साथ पाठक भी इस आकस्मिक संयोग से स्तब्ध रह जाता है।

नाटकीय शिल्पविधि से उत्सुकता के चरम बिंदु का निर्माण करने का कौशल कहानी के समापन अंश में द्रष्टव्य है। अरुण का हँसना और तत्काल मधूलिका का प्राणदंड माँग बैठना एकदम आकस्मिक है। "तो मुझे प्राणदंड मिले" – कहकर मधूलिका अरुण के बगल में खड़ी हो जाती है। इस बिंदु पर पाठक न केवल हतप्रभ है, अपितु कहानी का अंत एकदम खुला हुआ है। यदि किसी को यह जानना जरूरी है कि मधूलिका को क्या पुरस्कार मिला तो इसके निर्धारण में उसकी कल्पना और उसके अपने संस्कार सहायक होंगे। कहानीकार तीन संभावनाओं के द्वार खोल गया है –

1. महाराज ने केवल दोषी अरुण को प्राणदंड दिया होगा और मधूलिका को छोड़ दिया होगा।
2. महाराज ने क्रुद्ध होकर अरुण और मधूलिका – दोनों को प्राणदंड दे दिया होगा।
3. तीसरी और सबसे बेहतर संभावना है कि सारी बात जानकर महाराज ने मधूलिका के त्याग और उत्सर्ग को सम्मान दिया होगा और अरुण को दंड–मुक्त कर दिया होगा।

एक भावूक पाठक के लिए तीसरी संभावना अधिक ग्राह्य है जबकि सत्ता के चरित्र से अवगत प्रबुद्ध पाठक दूसरी संभावना को रेखांकित कर सकता है। जो भी हो, 'पुरस्कार' कहानी पाठकों के मन में एक बेचैनी पैदा करके समाप्त होती है।

'पुरस्कार' कहानी का कलापक्ष बहुत सशक्त है। इसकी कलात्मक बुनावट के प्रमुख बिंदु इस प्रकार हैं।

- प्रसाद ने प्रकृति–सौंदर्य के अंकन में तत्सम शब्दावली और बिम्ब बहुल भाषा का प्रयोग किया है। कई अवसरों पर यह भाषा पाठकों के लिए आसानी से ग्राह्य नहीं है।
- 'पुरस्कार' कहानी में बोलचाल की भाषा का सौंदर्य भी कई स्थलों पर है। लेकिन स्थूल वर्णन और सपाट कथन इस कहानी में कम है।
- इस कहानी की भाषा अर्थग्रहण कराने में जितनी सक्षम है उतनी ही बिम्ब ग्रहण कराने की शक्ति से सम्पन्न है।
- उपयुक्त उपमानों के नए–ताजे प्रयोग प्रसाद की अभिव्यंजना को कलात्मक बना सके हैं। प्रसाद का कवि–स्वभाव ऐसे स्थलों पर मुखर दिखाई देता है।
- प्रसाद का नाटककार रूप भी उनकी कहानी कला को प्रभावित करता है। 'पुरस्कार' में कई स्थलों पर नाटकीय शैली का सहयोग लिया गया है। कहानी का अंतिम अंश खासा नाटकीय है।

ऊपरी तौर पर प्रसाद की कहानियाँ व्यक्ति की उलझनों तक सीमित रह जाने की प्रतीति कराती हैं। वास्तव में ऐसा है नहीं। प्रसाद की कहानियों में अपने परिवेश और समय की चिंताएँ भी मौजूद हैं। उन्हें प्रेमचंद से एकदम विपरीत कथाकार सिद्ध करने की कोशिश हुई है। वास्तविकता तो यह है कि वे भी अपनी कई कहानियों में प्रेमचंद की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परंपरा को ही विकसित कर रहे थे।

दो शक्तिशाली मनोभावों का द्वंद्व और उससे उत्पन्न उलझन प्रसाद की सभी चर्चित कहानियों में केंद्रस्थ है। पुरस्कार में इस द्वंद्व को हम कई रूपों में देख सकते हैं। जब

मधूलिका राष्ट्रीय नियम के तहत अपनी जमीन ले लिए जाने पर क्षुब्ध होती है, जब द्वंद्व प्रवृत्ति और 'विधान' के बीच होता है। 'विधान' को वह अस्वीकार नहीं करती है, लेकिन अपना असंतोष भी जता देती है। अरुण की प्रणय–याचना भी द्वंद्व को जन्म देती है। सामंतवादी वर्ग के चरित्र से अवगत मधूलिका पहले तो उस याचना को ठुकरा देती है, बाद में उसे अरुण के अभाव का अनुभव होता है। यहाँ 'घृणा' और 'प्रेम' का वैसा ही द्वंद्व थोड़ी देर तक बना रहता है, जैसा 'आकाशदीप' में चम्पा के मन में है। कहानी के समापन चरण में राष्ट्रीय भावना और व्यक्ति चेतना आमने–सामने हैं। अपने निजी सुख की कल्पना में मधूलिका अपनी जन्मभूमि की पराधीनता के विषय में कुछ ध्यान नहीं करती। अपने निजी सुख की कल्पना में मधूलिका अपनी जन्मभूमि की पराधीनता के विषय में कुछ ध्यान नहीं करती। लेकिन निर्णायक क्षणों में उसे याद आता है कि वह उस सिंहमित्र की कन्या है, जिसमें कोशल की रक्षा में प्राण दे दिए थे। इस द्वंद्व में आखिरकार राष्ट्रीय भावना विजयी होती है। लेकिन अंत में अपने लिए प्राणदंड मांग कर मधूलिका 'प्रेम' के प्रति अपनी निष्ठा और समर्पण–भावना का प्रमाण भी देती है।

प्रसाद ने मधूलिका के जीवन–संघर्ष उसके अंतर्द्वंद्व और उसकी निर्णय–शक्ति का प्रभावपूर्ण बयान किया है। कहानी के अन्य पात्र उसके सामने फीके नज़र आते हैं। प्रसाद साहित्य में नारी पात्र प्रायः अधिक तेजस्वी और सबल हैं भी। 'पुरस्कार' में 'कथ्य' और 'संरचना' संश्लिष्ट रूप में है। मानसिक तनाव और द्वंद्व को व्यक्त करने के लिए सक्षम भाषा प्रसाद के पास है, जो अर्थ–ग्रहण के साथ–साथ बिम्ब–ग्रहण भी कराती है। सटीक बिम्बों, अप्रस्तुतों के माध्यमों से चरित्रों की बेचैनी, क्षोभ, राग–विराग आदि को सलीके से अभिव्यक्त किया गया है। प्रसाद का कवि रूप और नाटककार रूप उनके कहानीकार की सदैव सहायता करता है। पूर्वदीप्ति, वर्णनात्मक शिल्पविधियों के साथ नाटकीयता ने इस कहानी की अभिव्यंजना को प्रभावपूर्ण और तीक्ष्ण बनाया है। कहानी का अंत विशिष्ट, बेधक और कई तरह की संभावनाओं से सम्पन्न है। 'पुरस्कार' जयशंकर प्रसाद की कहानी कला का प्रतिनिधित्व करने में सर्वथा सक्षम है।

15.8 सारांश

इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं

प्रसाद कृत 'गुंडा', 'आकाशदीप', 'व्रतभंग' आदि प्रमुख कहानियों की तरह 'पुरस्कार' में भी दो शक्तिशाली मनोभाव टकरा रहे हैं। देश–प्रेम और व्यक्ति –प्रेम के बीच मधूलिका भीषण अंतर्द्वंद्व का शिकार हो जाती है।

मधूलिका शुरू में अरुण के प्रणय–प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। उसके मन में सामंती शक्तियों और प्रतिनिधियों के प्रति वितृष्णा का भाव है क्योंकि कोशल के राजा ने नियम की आड़ में उसका खेत ले लिया है।

अभावग्रस्त जीवन और अरुण का साहचर्य मधूलिका की वितृष्णा को और बढ़ा देते हैं। वह अरुण के षडयंत्र में सम्मिलित हो जाती है।

कहानी के कथ्य का सबसे परिवर्तनकारी बिंदु निजी प्रेम और देश के प्रति दायित्व को लेकर मधूलिका का अंतर्द्वंद्वगस्त होना है। उसे अपने पिता का कौशल के लिए बलिदान याद आता है। पिता के बलिदान को याद करते ही वह अपना मार्ग निश्चित करती है।

अपने लिए भी प्राणदंड माँगना मधूलिका की भावुकता का वह मार्मिक पक्ष है जो देश रक्षा के बाद अब अपने प्रेम की रक्षा के लिए आत्म बलिदान का रास्ता चुनता है।

प्रसाद की श्रेष्ठ कहानियाँ केवल मनोभावों के टकराव या बलिदान के साहस के फलस्वरूप ही उल्लेखनीय नहीं है। उनका शिल्प पक्ष भी प्रौढ़ और सुगठित है। चाहे

भाषा की बुनावट का संदर्भ हो या बयान का सलीका, हर दृष्टि से ये कहानियाँ सचेत कला दृष्टि की देन लगती हैं। यहाँ स्मरण रखना जरूरी होगा कि सचेत कलादृष्टि और कलावादी दृष्टिकोण में बहुत अंतर होता है। प्रसाद की कहानियों में 'वस्तु' और 'कला' संश्लिष्ट रूप में उपलब्ध हैं।

15.9 अभ्यास/प्रश्न

1. मधूलिका का चरित्र–चित्रण करते हुए उसके द्वंद्व के कारणों की चर्चा कीजिए।
3. भारतीय अस्मिता की खोज प्रसाद ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भों में करते हैं। क्या इससे स्वाधीनता आंदोलन में विभिन्न समुदायों की सम्मिलित हिस्सेदारी स्पष्ट हो पाई है।
3. क्या आप समझने हैं कि 'पुरस्कार' कहानी इतिहास और परंपराओं के पुनर्मूल्यांकन द्वारा आधूनिक जीवन में उसकी सार्थकता स्पष्ट कर पाई है।
4. पुरस्कार कहानी में नाटकीय शिल्पविधि के द्वारा प्रसाद पाठक को बार–बार चौंकाते हैं, इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
5. पुरस्कार के कथा शिल्प की विशेषताएँ बताइए।

15.10 उपयोगी पुस्तकें

1. हिंदी कहानी अस्मिता की तलाश – मधुरेश, आधार प्रकाशन पंचकुला
2. कहानी: अनुभव और अभिव्यक्ति – राजेन्द्र यादव
3. नई कहानी में वैयाक्तिक चेतना – डॉ कु. प्रेमपाल

इकाई 16 'कुत्ते की पूंछ' : यशपाल

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 यशपाल की कहानियों में मध्यवर्गीय संदर्भ

16.3 'कुत्ते की पूंछ' कहानी की पृष्ठभूमि

16.4 मध्यवर्ग पर व्यंग्य

16.5 मध्यवर्ग में छिपे स्वार्थ की अभिव्यक्ति

16.6 'कुत्ते की पूंछ' की भाषा शैली

16.7 सारांश

16.8 प्रश्न/ अभ्यास

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई यशपाल की 'कुत्ते की पूंछ' कहानी पर आधारित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मध्यवर्ग में छिपे स्वार्थ और झूठे मूल्यों के आग्रह को समझ सकेंगे;
- पूंजी के भेदभाव पर आधारित मध्यवर्गीय नैतिकता के आडंबर को रेखांकित कर सकेंगे;
- शोषण और मुनाफाखोरी पर आधारित संस्कृति के अधःपतन पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- बाल मजदूर बनाए जाने की अमानवीय प्रक्रिया को समझ सकेंगे;
- अस्तित्व बोध की चेतना के विस्तार और उसके एहसास की तीव्रता को जान सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

यशपाल के जीवन को प्रथम तो आर्यसमाजी विचारधारा ने स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द बना दिया था, लेकिन जेल में रहकर इन्होंने साम्यवादी विचारधारा का गहन अध्ययन किया और साम्यवादी विचारों ने इन्हें एक ऐसी वैज्ञानिक एवं समाजवादी दृष्टि प्रदान की, जिससे ये फिर विषमता एवं असमानता के विरुद्ध आवाज बुलंद करने लगे। साम्यवादी चिंतन ने इन्हें प्रभावित तो अधिक किया था, परंतु ये उस विचारधारा के दास नहीं बने। इसी कारण कुछ दिनों पश्चात ही इन्होंने साम्यवादी दल से अपना संबंध विच्छेद कर लिया। परंतु इनके मन एवं मस्तिष्क पर क्रांतिकारी तथा साम्यवादी विचारों ने जो छाप छोड़ दी थी, वह बराबर बनी रही।

यशपाल जी सक्रिय राजनीति से साहित्य और पत्रकारिता की ओर आए थे। मार्च, 1938 में जेल से रिहाई के समय यशपाल के लिए दुनिया काफी बदल चुकी थी। उनके अनेक महत्वपूर्ण क्रांतिकारी साथी मारे जा चुके थे या फिर फाँसी पर चढ़ाए जा चुके थे। क्रांतिकारी संगठन पूरी तरह बिखर गया था। जो कुछ साथी बच रहे थे,

वे अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे थे और गहरी अफरा-तफरी के उस माहौल में सुविधा और वर्तमान सोच के अनुसार जहाँ अवसर मिल रहा था अपने को जमाने और बचाने की कोशिश में लगे थे। सर सिकंदर हयात की सरकार ने पंजाब में यशपाल के प्रवेश पर पाबंदी लगा दी। कुछ समय नैनीताल के निकट भवाली में रहकर अपनी चिकित्सा के बाद, वे लखनऊ आ गए थे और यहीं से उन्होंने अपनी रिहाई के ठीक आठ महीने बाद अपना पत्र 'विप्लव' निकाला। इससे पहले कुछ समय उन्होंने लखनऊ के ही 'कर्मयोगी' में नौकरी भी की थी, लेकिन कुल मिलाकर वह केवल पौने दो महीने निभ सकी।

'विप्लव' का प्रवेशांक नवम्बर 38 में प्रकाशित हुआ। प्रवेशांक के सम्पादकीय में 'हे विप्लव' शीर्षक से लिखित टिप्पणी में यशपाल लिखते हैं, *"विप्लव मनुष्य और उसके समाज की जीवन-शक्ति का स्रोत है। मनुष्य समाज का विकास के मार्ग पर एक पड़ाव का मार्ग तमकर क्लांत, भ्रांत और जर्जर हो आगे अपने मार्ग को बंद पा रहे हैं। किंतु जीवन की राह पर चले बिना गुजारा नहीं। न चलने का अर्थ है मृत्यु!"* अपनी जिस हताश मनःस्थिति का संकेत यशपाल ने इस टिप्पणी में दिया है, उसका संबंध उस बदले हुए राजनीतिक माहौल से ही है, जिसमें एक मूलभूत अंतर उनके बंदी बनाए जाने - 23 जनवरी सन् 1932 और उनकी रिहाई - 2 मार्च, 1938 के बीच घटित हो चुका था।

जगह-जगह बने कांग्रेसी मंत्रीमंडल सुविधा, अर्थ और अवसरवाद की नीति का बहुत स्पष्ट संकेत दे रहे थे। साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष कमजोर पड़ रहा था और जनता की प्रतिरोध चेतना गहरे अवरोध का शिकार थी। दूसरे विश्वयुद्ध की आशंकाएँ बढ़ रही थी। इसी राजनीतिक परिदृश्य में यशपाल के 'विप्लव' की वास्तविक भूमिका को समझा जा सकता है। यशपाल ने प्रवेशांक के मुखपृष्ठ पर लिखा था :

"तुम करो शांति समता प्रसार;

विप्लव! गा अपना अमर गान!"

अपनी इसी सम्पादकीय टिप्पणी के अंत में यशपाल ने लिखा, *"हे विप्लव की अग्नि। हे दलित और पीड़ित जनता के शक्ति उद्‌गार उठ, भारत के निशक्त और ठंडे पड़े खून को गरम कर दे। भारत तेरी ओर आँखें लगाए प्रतीक्षा कर रहा है। उसे उत्पीड़न के रक्त के कीचड़ से निकाल कर समता और शांति की समतल भूमि पर खड़ाकर उसके सामने मनुष्य के विकास का मार्ग खोल दे....."*

प्रवेशांक की इस टिप्पणी से 'विप्लव' निकाले जाने का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः यही वह छूटा और अधूरा पड़ा काम था जिसे हिंदुस्तानी समाजवादी प्रजातंत्र सेना का क्रांतिकारी संगठन कर रहा था और जिसके लिए उसके सदस्यों की कोई कुर्बानी बड़ी नहीं थी। बदली हुई परिस्थितियों में दल के पुनर्गठन की संभावनाएँ अत्यन्त क्षीण थी। अतः दल के इस अधूरे काम को बम की जगह बुलेटिन द्वारा पूरा करने के लक्ष्य के साथ ही यशपाल पत्रकारिता और साहित्य के क्षेत्र में आए थे।

अपने क्रांतिकारी जीवन के संस्मरण 'सिंहावलोकन' में यशपाल ने दल की परिवर्तित भूमिका की ओर संकेत किया है। भगतसिंह के अनेक जीवनीकार आज इस तथ्य पर विशेष बल देते हैं कि वे द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन से बहुत गहरे रूप में प्रभावित थे और रूसी क्रांति के संदर्भ में लेनिन की कार्यनीतियों का उन पर जबर्दस्त प्रभाव था। वस्तुतः इस तथ्य को सबसे पहले यशपाल ने ही उजागर किया। अतः कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए यदि 'विप्लव' का उद्देश्य और प्रकारांतर से यशपाल के अपने लेखन को भी, मार्क्सवाद की दीक्षा के रूप में प्रस्तुत किया गया। कांग्रेस का सत्ता लोलुप, सुविधा जीवी अवसरवाद कांग्रेस के अंदर ही समाजवादी युवकों का एक ऐसा गुट पैदा कर रहा था जो पार्टी की नीतियाँ और भूमिका से असंतुष्ट था। यशपाल ने उन सबके लिए 'विप्लव' के रूप में एक खुला मंच दिया। बहुत खुले मन से यशपाल ने

मार्क्सवाद पर धारावाहिक बहस आयोजित की, उसके विरोधियों को भी उन्होंने उसमें हिस्सेदारी के लिए आमंत्रित किया। उनकी वैचारिक दृढ़ता उस कट्टरपन और कठमुल्लावाद से अलग और भिन्न थी, जो अपने को ही सही मानकर और सबको गलत मानती है - या जो हम सोचते हैं उसके विरुद्ध और कुछ बरदाश्त करने में तकलीफ होती है।

16.2 यशपाल की कहानियों में मध्यवर्गीय संदर्भ

यशपाल मूलतः मध्य वर्ग के लेखक हैं। अपनी कहानियों में वे उस प्रगतिशील परिवर्तन कामी मध्यवर्ग की भूमिका को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं जो सामाजिक-राजनीतिक क्रांति का समर्थक और वाहक है। सामाजिक विसंगतियों के उद्‌घाटन के लिए यशपाल ने व्यंग्य का उपयोग बड़ी खूबी के साथ किया है। उनकी आरंभिक कहानियों में यह देखा जा सकता है। इसी दौर में लिखित अज्ञेय की भावुक और गद्य गीतनुमा कहानियों से 'पिंजरे की उड़ान' की कहानियों की तुलना करके इस अंतर को भली-भांति समझा जा सकता है। प्रेमचंद की कहानियों की अपेक्षा यशपाल की ये आरंभिक कहानियाँ निजी जीवन-प्रसंगों के रचनात्मक उपयोग से अधिक समृद्ध हैं। लेकिन अपनी इन कहानियों में भी, एक लेखक की हैसियत से यशपाल कहानी और जीवन के पारस्परिक संबंधों को लेकर कहीं भी अस्पष्ट नहीं हैं। वे लिखते हैं, "हमारी कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकताएँ ही होती हैं....." यशपाल की कल्पना अतीत सुख-दुख को अनुभूति के चित्र बनाकर उससे ही संतोष करने को तैयार नहीं है। अपनी कल्पना की प्रकृति की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं, "*(वह) आदर्श की ओर संकेत कर समाज के लिए नया नक्शा तैयार करने का यत्न करती है.....।*"

अपनी कहानियों द्वारा यशपाल एक ओर यदि मध्यवर्ग की रूढ़ियों और परंपरागत संस्कारों पर चोट करते हैं, वहीं वे अवैज्ञानिक निषेधों और वर्जनाओं की भर्त्सना करके स्वस्थ, वैज्ञानिक और सकारात्मक दृष्टिकोण के निर्माण पर बल देते हैं। अकारण भावुकता से बचते हुए, तर्क-सम्मत और यथार्थ दृष्टि अपनाकर ही जीवन सार्थक ढंग से जिया जा सकता है। इसी आधार पर यशपाल कला की शुद्धता के सिद्धांत की तीखी आलोचना करते हुए उसे जीवन के संदर्भ में ही प्रयोजनीय और सार्थक मानते हैं। यशपाल की कहानियाँ बदलते सामाजिक संदर्भों में बदली हुई नैतिकता की हिमायत करती हैं इसीलिए जब-तब वे अनेक प्रकार के विवादों का केंद्र भी रही हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि अपने विकास के क्रम में समाज ने अपने को तेजी से बदला है। इसीलिए प्राचीन और परंपरागत मान्यताओं एवं धारणाओं पर गहराई से पुनर्विचार की आवश्यकता है। इसी स्थिति पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, "अनेक पुरानी मान्यताएँ और परंपराएँ आज की परिस्थितियों में बहुत उखड़ी-उखड़ी लगती हैं। इनसे समाज में अव्यवस्था ही उत्पन्न होती दिखाई देती है। समाज का अंग होने के नाते इन अव्यक्त कारणों को सुलझा सकने में बल्कि ज्यादा संतोष अनुभव होता है। इसी ओर मेरी अधिक प्रवृत्ति होती है, यानी असुंदर को प्रकट कर देने की ओर; अपने समाज को अंधविश्वास के धोखे से बचाने की ओर.....।"

यशपाल की इस टिप्पणी के संदर्भ में उनकी कहानियों की भूमिका को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। अपनी पीढ़ी के अनेक किशोरों की तरह उन्होंने भी अपना जीवन आर्यसमाज की छाया में शुरू किया था। तब आर्य समाज की एक क्रांतिकारी भूमिका थी। सरकारी अनुदान और दूसरे प्रलोभनों में फंसकर यशपाल ने गहरी हताशा के साथ उसकी धार को कुंठित होते देखा था। अपनी इस क्रांतिकारी भूमिका को छोड़कर रूढ़, प्रतिक्रियावादी और निषेधपूर्ण धारणाओं से जीवन को नियंत्रित करने की उसकी लालसा को वे सामाजिक विकास की दृष्टि से घातक मानते थे। ब्रह्मचर्य

का आदर्श, बदली हुई स्थितियों में, उन्हें एक बहुत बड़ा ढोंग लगता था। अपनी प्रसिद्ध और विवादास्पद कहानी 'धर्मरक्षा' में इसी दृष्टि से वे आर्यसमाज की विचार-दृष्टि पर आक्रमण करते हैं। दूसरे प्रकार के शोषण के समान वे स्त्री के मौन-शोषण के भी प्रबल विरोधी थे। 'तुमने क्यों कहा था। मैं सुंदर हूँ!' में वे स्त्री को कुंठित करने वाली स्थितियों का विस्तारपूर्वक अंकन करते हुए उसके प्रकृत कामावेग का अंकन करते हैं। उनकी अनेक कहानियाँ परिवर्तित सामाजिक संदर्भों में स्त्री-पुरुष संबंधों की संभावनाओं को तलाशती दिखाई देती हैं।

यशपाल की कहानियों में मध्यवर्ग के विभिन्न स्तरों से आए पात्रों की एक भरी पूरी और रंगारंग दुनिया हिलोरे लेती दिखाई देती है। इन कहानियों में पुलिस के अत्याचारों से त्रस्त और आतंकित लोग हैं। रूढ़ियों और अंधविश्वासों में पले-बढ़े, शहरी सभ्यता के विलास से काफी कुछ अछूते पहाड़ी गाँवों में बसे लोग हैं जो धर्म, मनौती और देवी-देवताओं के नाम पर आज भी शोषण का शिकार हैं। पहाड़ों पर तफरीह को जाने वाले सुविधाभोगी लोग हैं जो परीक्षा की तैयारी की आड़ में सड़कों पर सैर करती लड़कियों के नंबर तय करते हैं। पढ़ी-लिखी उपेक्षित महिलाएँ हैं, रूढ़ियों और सामाजिक विसंगतियों की शिकार भी हैं और वेश्याएँ भी। एक ओर अपनी सफेदपोशी और अभिजात दर्प में बंद लोग हैं, जो इंसान का इंसान की तरह जीना पसंद नहीं करते, और दूसरी ओर शोषित, उपेक्षित, दुखी और सताए हुए लोग हैं जो अपने हक की लड़ाई के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार कर रहे हैं। दूसरों की दया और कैसी भी करुणा के बदले वे आत्मनिर्णय के अपने अधिकार को वरीयता देते दिखाई देते हैं। यशपाल की कहानियों के संदर्भ में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद के बाद कदाचित किसी दूसरे लेखक ने इतनी बड़ी संख्या में न तो अपने आस-पास के विभिन्न वर्गों, श्रेणियों और संस्कारों के पात्रों के एक जीवंत एवं विश्वसनीय संसार की रचना की है और न ही इतने ज्यादा मुस्लिम पात्रों को आधार बनाकर कहानियाँ लिखी हैं जितनी यशपाल ने। आर्य समाज की निषेधारित जीवन-दृष्टि की तरह ही वे 'पाप की कीचड़' में ईसाई समाज की पृष्ठभूमि में भी इस अप्राकृतिक और अवैज्ञानिक सोच की भर्त्सना करते हैं।

यशपाल की कुछ महत्वपूर्ण कहानियों के उल्लेख द्वारा मध्यवर्गीय भारतीय समाज के बदलाव में उनकी भूमिका को कदाचित बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। 'नीरसरसिक', 'हृदय' और 'भस्मावृत्त चिंगारी' यशपाल संस्कारगत जड़ता, अतिरिक्त रूप से रोमानी भावुकता के बीच से राह बनाते हुए कला की सामाजिक उपयोगिता पर टिप्पणी करते हैं। 'दूसरी नाक' में मुस्लिम समाज में स्त्री को हीन और वस्तु समझने की सोच तो है ही, वे रूढ़ संस्कार भी हैं जो अपनी ही सुंदर पत्नी को इस कारण असुंदर बना देते हैं ताकि वह दूसरों की निगाह से बचाकर रखी जा सके। 'कुत्ते की पूंछ' में वर्ग-भेद का दर्प भी है और छोटे समझे जाने वाले लोगों के प्रति घृणा भी जो इंसान के इंसान की तरह जी सकने के प्रयत्नों का प्रतिवाद करती है। 'तर्क का तूफान', 'परदा', 'गंडेरी', 'अस्सी बटा सौ', 'या साई सच्चे' और 'आदमी का बच्चा' आदि यशपाल की इसी प्रकार की कुछ उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। अपनी कुछ कहानियों में वे इतिहास को वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से देखने की कोशिश करते हैं तो कभी वर्गीय रूपांतर के परिणाम स्वरूप साझे स्वार्थों के कारण राजा और पुरोहित-वर्ग के जोड़-तोड़ की कोशिशों को उद्घाटित करते हैं। 'राजा', 'दास धर्म', 'ज्ञान-दान' और 'शंबूक' जैसी कहानियों में भी, पौराणिक पृष्ठभूमि का प्रयोग कर रहे होते हैं - एक वर्ग युक्त और समतावादी समाज की संभावनाओं को तलाशते हुए। ज्ञानदान की भूमिका में यशपाल ने लिखा है कि "कला और साहित्य का उद्देश्य सभी अवस्थाओं में मनुष्य में नैतिकता और कर्तव्य की प्रवृत्तियों की चिनगारियों की फूंक मारकर सुलगाता ही रहता है।"

16.3 'कुत्ते की पूंछ' कहानी की पृष्ठभूमि

यशपाल की 'कुत्ते की पूंछ' उनकी आरंभिक कहानियों में से है। यह सन् 1941 में प्रकाशित उनके कहानी संग्रह 'वो दुनिया' में संकलित है। यशपाल के कहानी-लेखन का सबसे महत्वपूर्ण दौर सन् 1939 से सन् 1955 तक माना जा सकता है। इसी काल में उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण, विवादों की दृष्टि से उत्तेजक और कलात्मक दृष्टिकोण से सफल कहानियाँ लिखी गईं। उनके पहले संग्रह 'पिंजरे की उड़ान' (1939) के बाद यह उनका दूसरा संग्रह था। यह अनुमान सहज ही कि इन दोनों संग्रहों में संकलित काफी कहानियाँ वे थीं जो उन्होंने अपने लंबे कारावास के दौरान लिखी थीं। यशपाल उन लेखकों में से हैं जो अपनी पुस्तकों के 'समर्पण' जैसी निजी और व्यक्तिगत चीज को भी अपने रचनात्मक लक्ष्यों और आदर्शो से जोड़े बिना नहीं रहते। इस शीर्षक की कोई कहानी संग्रह में नहीं है। वस्तुतः ये ही दो संग्रह यशपाल के ऐसे हैं जिनके शीर्षकों का नामकरण उस नाम की किसी कहानी के आधार पर नहीं किया है - इस प्रकार की प्रवृत्ति यशपाल के परवर्ती कहानी-संग्रहों के लिए चुने गए शीर्षकों के संदर्भ में दिखाई देती है। जैसे 'पिंजरे की उड़ान' का निहितार्थ जेल में रहकर एक कल्पना के संसार के निर्माण से है उसी प्रकार 'वो दुनिया' की कहानियाँ एक ऐसी दुनिया का नक्शा प्रस्तुत करने का समवेत प्रयास करती हैं जो किसी भी प्रकार के शोषण से मुक्त एक वर्गहीन और समतावादी समाज होगा। अपने 'समर्पण' में यशपाल ने इस ओर निर्देश करते हुए लिखा है, "इस दुनिया की परिस्थितियाँ जीवन की राह बंद किए हैं.....।" इस विषमताओं भरी दुनिया में जीवन का उच्छल कराह उठता है। एक लेखक के रूप में अनेक सरोकारों को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं, *"इसी कराह को कला में लपेटकर दर्द भरे संगीत का रूप देना चाहते हैं..." "वर्तमान परिस्थितियों से 'भैरव विद्रोह' में ही उनकी परिकल्पित दुनिया की संभावनाएँ निहित हैं जिसे लेखक एक 'स्वर्णिम आशा' के रूप में देखता है जहाँ हम मिलकर जी सकेंगे, जहाँ हम मिलकर गा सकेंगे। उस दुनिया की यह 'सुखद चाह' जिन्हें समर्पित है वे वे ही लोग हैं जो इस दुनिया के लिए देखे गए सपनों और उसे सच में बदलने के संघर्ष में शामिल हैं।"*

अपने 'समर्पण' के इसी सूत्र को यशपाल अपनी भूमिका में भी विस्तार देते हैं। वे इसे स्वीकार करते हैं कि उस आदर्श दुनिया की प्रकृति और स्वरूप के संबंध में मतभेद संभव है। लेकिन यह एक सर्व स्वीकृत तथ्य है कि यह वर्तमान दुनिया विषमताओं से भरी हुई है, जब कि वह दुनिया इन विषमताओं से मुक्त होगी। इसी ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं, 'इन कहानियों में उस दुनिया का कोई स्पष्ट चित्र नहीं दिया जा सका। यह प्रयत्न किया गया है इस दुनिया के वैषम्य की ओर संकेत करने का। इस दुनिया की कटुता से ही उस दुनिया की चाह उठती है इसीलिए दिल पुकार उठता है - वो दुनिया'।

इस पृष्ठभूमि में 'कुत्ते की पूंछ' कहानी का पाठ-विश्लेषण अपनी विश्वसनीयता के कारण प्रामाणिक हो सकता है। यशपाल कहानी के लिए एक उच्च मध्य वर्गीय परिवार के दम्पत्ति का चुनाव करते हैं और व्यंग्य एवं 'विट' के सहारे छोटे-छोटे ब्यौरों द्वारा कहानी को विकसित करते हैं। कहानी का नैरेटर पति ही है जो पेशे से वकील है। तत्कालीन भारतीय मध्यवर्गीय समाज में सिनेमा के प्रति गहरा आकर्षण तो था ही, अच्छी, चर्चित और नई फिल्मों का देखा जाना सामाजिक प्रतिष्ठा का हिस्सा भी था। पत्नी की जिद पर, सारी धंधई व्यस्थता के बावजूद, पिक्चर देखे जाने को जब टाल पाना असंभव हो जाता है तो एक दिन उसे देखने का कार्यक्रम बनता है। कुछ व्यवहारिक असुविधाओं और दैनिक कार्यों में व्यवधान आने की आशंका के बावजूद दूसरा शो ही देखा जाता है। रात में साढ़े बारह बजे जब शो छूटता है तो, तांगे के प्रसंग में, एक बार फिर से मध्यवर्गीय मानसिकता के दर्शन होते हैं जो तांगेवाले पर यह प्रभाव नहीं डालना चाहती कि तांगे की मजबूरी है और ज्यादा पैसे देकर भी लेना ही है। इसीलिए चांदनी रात में कभी-कभी पैदल घूमने के लिए वे लोग घूमते हुए ही

घर लौटते हैं। पति और पत्नी के संबंधों के बीच बहस और तर्क के प्रसंग में यशपाल व्यंग्यपूर्ण उक्तियों के सहारे कहानी में उस स्थल पर आते हैं जहाँ से कहानी सचमुच शुरू होती मानी जा सकती है। बहस की अप्रिय स्थिति से बचते हुए, जब पति अपने को सुरक्षित अनुभव करता हुआ, पत्नी को साथ लिए चल रहा होता है तभी जो सामने दिखाई देता है वह उनके चलने में बाधा डालता है। '*हलवाई की दुकान थी। सौदा उठ चुका था। बिजली का एक बल्ब अभी जल रहा था। लाला दुकान के तख्त पर चिलम उलटकर दीवार से लगे औंधा रहे थे। नीचे सड़क पर बड़ी कढ़ाई ईंट के सहारे टिकाकर रखी गई थी। उसे मांजने के प्रयत्न में एक छोटी उम्र का लड़का उसी में सो गया था। कालिख से भरा जूना उसके हाथ में थमा था और उसकी बाँह फैली हुई थी। दूसरा हाथ कड़े को थामे था। कढ़ाई को घिसते-घिसते लड़का औंधा गया और फैली हुई बाँह पर सिर रख सो गया....*' पत्नी इस दृश्य को देखकर रुक जाती है और पिघले हुए स्वर में क्रोध का पुट देकर पति को भी इसे वैसे ही देखने को ललकारती है। उसे सचमुच यह 'जुल्म' लगता है - "*क्या तो बच्चे की उम्र है और रात के एक बजे तक यह कढ़ाई, जिसे वह हिला नहीं सकता, उससे मंजाई जा रही है.....*" बच्चे के प्रति पत्नी की उच्छल करुणा देखकर जिसे उसके प्रति उनके व्यवहार ने और स्पष्ट कर दिया था, पति एक पढ़े लिखे बुद्धिजीवी की भाषा में, जिसे वह स्वयं 'मार्क्सवादी विचाराधारा' के अनुरूप समझता और मानता है, टिप्पणी करते हुए कहता है ***"मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की कोई सीमा नहीं.....!"***

इस प्रकार कहानी बालश्रम पर केंद्रित हो जाती है और उसके संदर्भ में मध्यवर्गीय 'करुणा' की अनेक परतें, एक के बाद एक, खुलती चलती है। शोर सुनकर हलवाई भी जाग जाता है। लेकिन उसके कुछ समझ और कर पाने से पहले ही पत्नी लड़के का हाथ थाम अपने साथ चलने को तैयार कर लेती है। इस घटना के बाद फिर फिल्म और कला की चर्चा भी उसकी करुणा और क्रोध में डूब जाती है।

पति चूंकि वकील है, वह इस घटना के कानूनी पहलुओं पर भी गौर किए बिना नहीं रहता। लेकिन पत्नी ने किसी भी प्रकार के कानून को मानने से इन्कार कर दिया और बच्चे को अपने साथ लिए जाने के लिए उनके पास सीधा-सादा तर्क है - "*लड़के को कहीं भगाएँ थोड़े ही लिए जाते हैं। लड़के पर इस तरह के जुल्म का हक आखिर कौन-सा कानून देता है? लड़के के माँ-बाप आएंगे तो लड़का दे दिया जाएगा ..... उस जुल्मी राक्षस के पास उसे क्यों छोड़ा जाए?*" इस पर भी अनुमान लगाया जाता है कि वह हलवाई चुपचाप यह सब होते क्यों देखता रहा और किसी सक्रिय रूप में उसने उन्हें रोका क्यों नहीं? पति यही सोचकर पत्नी को समझाने की कोशिश करता है कि 'शायद कोई बड़ा सरकारी अफसर समझकर चुप रह गए हो...' इस तरह मध्यवर्गीय समाज में अफसर समझे जाने वाले व्यक्ति की हैसियत पर टिप्पणी यहाँ मौजूद है।

लड़के के घर आ जाने के बाद उसके बारे में पता चलता है कि उसके माँ-बाप नहीं है। कोई दूर का रिश्तेदार उसे उस हलवाई के यहाँ छोड़ गया था। अगले दिन हलवाई भी पहुँचता है। वकील दम्पत्ति के अभिजात्य और हैसियत के प्रति सारे स्वाभाविक संकोच के बावजूद वह अपना पक्ष रखता है। लड़के के बाप की तरफ लाला के साठ रुपये आते थे। लालाजी उल्टा अपने पास से लड़के को खिला-पिलाकर पाल-पोस रहा है। लड़के की कोई उम्र भी है कि उससे काम लिया जा सके। बस दूकान की चीज-वस्तु उठाकर इधर-उधर रख देता है। अपने साठ रुपये मिल जाने पर वह सूद भी छोड़ देने को तैयार है। पत्नी लाला की बात सुनकर कर शायद साठ रुपये देने को अपने को मन ही मन तैयार कर चुकी थी कि अचानक सामने आकर पति ने मोर्चा संभाल लिया : "*लाला जो हुआ अब चले जाओ वर्ना लड़का मांगने और क्रुएल्टी टू चिल्ड्रैन के जुर्म में गिरफ्तार हो जाओगे....*" पत्नी गहरे आत्मविश्वास के साथ पति की ओर देखती है जैसे उसे विश्वास हो कि पति की सारी आशंकाओं के बावजूद इससे भिन्न और कोई होना नहीं था।

फिर लड़के को संस्कारित और दीक्षित करने का कार्यक्रम बड़े पैमाने पर शुरू होता है। उसका नाम 'हरुआ' से बदलकर हरीश किया जाता है। उसके शरीर पर जमी मैल की परतों को साबुन से धोकर साफ किया जाता है। उसके बाल कटवाए जाते हैं। अपने चार वर्ष के बेटे विशु की कंघी उसे देकर उसके बालों का पुख्ता इंतजाम किया जाता है। चूंकि चार और आठ वर्ष के बच्चों में शारीरिक दृष्टि से काफी अंतर होता है, इसलिए विशु के कपड़ों का ख्याल छोड़कर उसके लिए नेवीकट कालर के तीन कमीज़ और नेकर सिलवा दिए जाते हैं।

16.4 मध्यवर्ग पर व्यंग्य

प्रथमदर्शनी दिखने वाली संवेदनशीलता, मानवीयता को देखकर पाठक श्रीमती जी व श्रीमान की दयादृष्टि, सहानुभूति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। कोई विरला इंसान ही इस प्रकार का कदम उठाता है। लेकिन इस के पीछे के सत्य का जल्द ही पता हमें चल जाता है। शुरू-शुरू में हरीश के प्रति पत्नी का मध्यवर्गीय उत्साह देखते ही बनता है। छोटे-मोटे घरेलू कामों में हरीश की दक्षता जैसे उनकी अपनी सफलता हो। वह उसकी स्वाभाविक प्रतिभा से इस कदर अभिभूत हैं कि पति से उस अमेरिकी प्रेजीडेंट् का नाम भी पूछती है जो मजदूर से उस हैसियत तक पहुँचा था। आदमी को अगर मौका मिले तो आदमी क्या नहीं कर सकता। वह खुश है कि उसने दूकान पर हलवाई की कढ़ाई माँजने वाले लड़के के लिए अपार संभावनाओं की राह खोल दी है। विशू और हरीश के बीच आते रहने वाले टकराव को वह धैर्य से दूर करने का प्रयास करती। हरीश के प्रति माँ के इस लगाव को देखकर विशू को ईर्ष्या भी होती है। वह इसकी प्रतिक्रिया में कभी सूरत बनाकर बैठ जाता, कभी बिसूरने लगता और कभी हाथ में आई चीज से उसे मारने की कोशिश भी करता। लेकिन बेटे की इस बातों में उसकी माँ को मनुष्यता और निर्धनता का अपमान दिखाई देता है। 'गंभीरता से विशू को ऐसा अन्याय करने से रोकती और हरीश का साहस बढ़ाकर उसे अपने आपको किसी से कम न समझने का उपदेश देती' पत्नी इस बात से सचमुच दुखी है कि आखिर हरीश इस घर में इतना बेगानापन क्यों अनुभव करता है और विशू की तरह अपना अधिकार क्यों नहीं जमाता है? जरूरत पड़ने पर भी वह किसी चीज के लिए विशू की तरह ही जिद क्यों नहीं करता है? पत्नी को यह भी लगे बिना नहीं रहता कि पति का भय ही शायद उसके इस संकोच का कारण है।

इसी बीच किसी रियासत के एक मुकद्दमे के सिलसिले में पति किसी बड़े वकील का जूनियर बनकर कुछ दिनों को बाहर चला जाता है। उसे यह भी लगता है कि अब उसके पीछे, उन्मुक्त वातावरण में उसके भय और संकोच से मुक्त होकर लड़का शायद तेजी से मनुष्य बन सकेगा। ढाई गुना आमदनी के लालच में चार महीने का यह प्रवास भी वह भुगतता है। शुरू-शुरू में पत्नी के पत्रों से हरीश के बारे में जो सूचनाएँ उसे मिलती रही थीं, अचानक उनमें एक आधारभूत परिवर्तन घटित होता है। 'पहले उसके प्रति पत्नी के उत्साह में कमी आती है और फिर वह हताशा और शिकायतों में बदल जाता है। हरीश की ओर से हुए मोह भंग की स्थिति में अब वह आम गंदे-लड़कों की तरह गली के मैले-कुचैले लड़कों में खेलता है। उन्होंने उसकी पढ़ाई-लिखाई की जो व्यवस्था की थी, उस ओर उसका बिलकुल ध्यान नहीं है। फिर यह भी सूचना मिलती है कि वह अब कहना नहीं मानता और बहुत जिद्दी है। बहुत डल है। हर समय कुछ न कुछ खाता रहता है जिससे उसका हाज़मा भी ठीक नहीं रहता है।'

पति के लौटने पर और बहुत सी शिकायतों के बाद जिनमें परिवार के प्रति पति की उदासीनता एवं लापरवाही की शिकायत प्रमुख है *"सचमुच तुम बड़े अजीब आदमी हो। हम फिक्र में मरते रहे और तुमसे खत तक नहीं लिखा जा सकता था। ऐसी भी क्या बेपरवाही। यहाँ मुसीबत कि लड़के को खांसी हो गई। तीन-तीन बार डाक्टर को*

बुलवाना पड़ता था। घर में सिर्फ दो नौकर हैं। वे घर का काम करें या डाक्टर को बुलाने जाएं। इस लड़के को देखो, जरा डाक्टर बुलानें भेजा तो सुबह से दोपहर तक गलियों में खेलता फिरा और डाक्टर का घर इसे नहीं मिला। डाक्टर जमील को शहर में कौन नहीं जानता?" बात 'लड़के' की मूर्खता और खिलंदरेपन पर आकर टिक जाती है। विशू के बीमार पड़ने पर उसे डाक्टर को बुलाने भेजा- घर में और जो सिर्फ दो नौकर हैं वे घर का काम करें या डाक्टर को बुलाने जाए! - तो वह दोपहर तक गलियों में घूमता रहा और फिर घर लौटकर बहाना बना दिया कि डाक्टर का घर उसे मिला ही नहीं। अब भला डॉ. जमील को शहर में कौन नहीं जानता? फिर पति की उपस्थिति में ही उसे एक साथ कई काम बता दिए जाते हैं- विशू को गोद से उतारकर गुसलखाने में पड़े गीले कपड़ों को धोले जिसके लिए उससे कई बार कहा गया है। पानी लेकर खस की टटियों को स्टूल पर खड़े होकर ढंग से, ठीक से भिगों दे। उसे हिदायत दी जाती है कि बेकार ही पानी बहा न दे। फिर पति की ओर देखकर वह हर काम के लिए सुनकर उसके कतरा जाने की शिकायत करती है। धीरे-धीरे पत्नी से उसके बारे में उन्हें और कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। उसे पढ़ाने के लिए स्कूल के एक लड़के को चार रूपयों में रखा था, उसे छुड़ा दिया गया है क्योंकि उसका पढ़ने में मन ही नहीं लगता है। और फिर उसकी टिप्पणी है, *'बस खाने की हाय-हाय लगी रहती है। कोई चीज संभालकर रखना मुश्किल हो गया है'* जल्दी ही पति को इसका प्रमाण भी मिल जाता है। फल की टोकरी से विशू को लीचियाँ देते समय हरीश की ललचाई आँखें उन्हें विशू के हाथ की ओर ताकती दिखाई देती हैं। फिर पत्नी उसके पेटूपन पर खीझती हुई दो लीचियाँ उसके हाथ पर रखकर उसे बाहर जाने का हुक्म देती है - जैसे जीती जागती मुसीबत को ही सिर पड़ने पर कमरे से बाहर ठेल रही हैं।

शाम को पता चलता है कि हरीश सूखने को डाले हुए कपड़े हवा में उड़ा कर मालकिन की खीझ और बढ़ा देता है। वह पति पर झल्लाती है *"मैं इसका क्या करूँ? 'वही बात हुई न कि कुत्ते का गूं न लीपने का न पोतने का'* अब वह लड़का एक 'बला' में बदलने लगता है। उनकी मुख्य चिंता यह है कि इसकी संगत में विशू क्या सीखेगा? और फिर उनकी निष्कर्षात्मक टिप्पणी है "कमजात कहीं अपनी आदत से थोड़े ही जाता है?....." और फिर वे जैसे अपने इस सूत्र को आगे बढ़ाते हुए कहती हैं, *"बंदर को मुँह लगाने से वह नोचेगा ही तो! इन लोगों के साथ जितनी भलाई करो, उतना ही सिर पर आते हैं। यह कोई आदमी थोड़े ही हैं"* पति ऐसी राह निकालता है कि अपनी बात कह पाने पर भी पत्नी को अपना विरोध न जान पड़े। वह कहते हैं, *"जानवर को आदमी बनाना बहुत कठिन है। उसे पुचकार कर पास बुलाने में बुरा नहीं मालूम होता क्योंकि उसमें दया करने का संतोष होता है। परंतु जब जानवर स्वयं ही पंजे गोद में रख मुँह चाटने का यत्न करने लगता है, तो अपना अपमान जान पड़ने लगता है"* विरोध से बचने की इच्छा करने पर भी जब पत्नी के तेवर से उसका बचना कठिन दिखाई देता है तो वह उसे सरकार और मजदूरों के झगड़े वाले कार्यक्रमों के बावजूद अपने अधिकारों की माँग अनुचित लगती है। इस उदाहरण से पत्नी का हौसला बढता है, *"तभी तो कहते हैं - कुत्ते की पूंछ बारह बरस नली में रखी, पर सीधी नहीं हुई।"* फिर उन्हें उस लाला की याद आती है। उसे उस दिन तो धमकाकर भगा दिया था लेकिन वह साठ रुपये की बात कर रहा था। कहीं उस मूल रकम पर वह सूद भी जोड़ने लगा तो रकम कहाँ से कहाँ पहुँचेगी? बेकार ही झगड़े में पड़ने से क्या फायदा? पति जब उन्हीं के मुँह से इसका खुलासा जानना चाहते हैं तो पत्नी का उनकी ना समझी पर खीझना स्वाभाविक है। इस खीझ में जैसे जानवर को आदमी बना सकने की अपनी असफलता की झेंप भी शामिल है। पति को लगे बिना नहीं रहता कि बात दब भले ही गई हो, पूरी तरह से टली नहीं है। कुत्ते की पूंछ एक दफे काट लेने के बाद उसे फिर उसकी जगह लगाना कैसे संभव है? इसी तरह **एक बार मनुष्यता का चसका लग जाने पर किसी को जानवर बनाए रखना भी तो संभव नहीं है।**

16.5 मध्यवर्ग में छिपे स्वार्थ की अभिव्यक्ति

कहानी के इस पाठ-विश्लेषण के बाद उन मुद्दों पर बात की जा सकती है जिनका संकेत इस पाठ के शुरू में ही किया गया है। यशपाल एक मध्यवर्गीय लेखक हैं। लेकिन वे मध्यवर्ग के मनोविज्ञान को व्यंग्य द्वारा उद्घाटित करते हुए उसकी निःसारता को स्पष्ट करते हैं। हरीश - हरुआ - के प्रति पत्नी का आकर्षण और उसमें निहित करुणा धीरे-धीरे रंग खोती जाती है और बहुत जल्दी ही वह अपनी वास्तविक धातु दिखाने लगती है। मध्यवर्गीय परिवेश और बोली में उनके द्वारा बोले गए मुहावरे, हरुआ के प्रसंग में, उनकी मानसिकता के वास्तविक तल को स्पष्ट कर देते हैं। आखिर उसे लेकर उनके सारे सद्प्रयासों का क्या होता है? वह नाली की गलाजत पर पला-पुसा लड़का नाली के कीड़े की नियति लेकर ही पैदा हुआ है। वह कुत्ते का गूं ही है, जिसका कोई उपयोग लीपने-पोतने में नहीं हो सकता है। आखिर उनके द्वारा किए जाने वाले सारे अहसानों को भुलाकर वह कुत्ते की पूंछ ही साबित होता है जो बारह साल नली में रखी जाने के बाद भी सीधी नहीं होती। अंत तक आते-आते उसके प्रति उनका सारा मध्यवर्गीय उत्साह पतझड के पत्ते की तरह चू पड़ता है और फिर वे अपने वर्गीय खोल में लौटकर सुरक्षित और आश्वस्त अनुभव करती है - लाला को उसे लौटा देने पर उस लफड़े से बचने का अपना निर्णय पति को सुनाकर। पत्नी मध्यवर्ग की उस स्त्री का प्रतीक है जो स्वयं कुछ न होकर भी पति की योग्यता और पेशे का प्रतिनिधित्व करती हैं। मध्यवर्गीय जीवन में सिनेमा और ऊपरी प्रदर्शन की भूमिका उसके प्रसंग में भी स्पष्ट है। उसी वर्ग का प्रतिनिधि होने पर भी पति अपेक्षाकृत चीजों और समय की सच्चाई को बेहतर समझता है। लेकिन अपने धंधे की व्यस्तता और पारिवारिक समरसता के नाम पर, व्यर्थ के झमेले में पड़ने से बचते हुए, वह पत्नी से समझौता करके चलता है। चूंकि कहानी का भाव पक्ष वही है कहानी उसी के द्वारा कही गई है, मजदूरों और सरकार के संघर्ष में वह मजदूरों के विरोध में जाकर सरकार के पक्ष में ही टिप्पणी करता है। बुनियादी रूप में वह स्त्री को पुरुष की अपेक्षा हीन और कमतर समझता है इसीलिए कला, राजनीति और इसी प्रकार के गंभीर मुद्दों पर पत्नी से बहस में उलझने से बचता है, क्योंकि उसे वह इसका पात्र ही नहीं समझता है। लेकिन अपने वक्तव्य को वह जिस व्यंग्य-मुद्रा में प्रस्तुत करता है, उसी में उस के वर्गगत संस्कारों और सोच की सीमाएं स्पष्ट हैं। अपने बौद्धिक स्तर के कारण वह इसे स्पष्ट कर देने में सफल होता है कि जिस प्रकार कुत्ते की पूंछ एक बार काट लेने के बाद फिर उसे उसी जगह लगाना संभव नहीं है, इसी प्रकार आदमी को मनुष्यता का चस्का लग जाने के बाद, जैसे यहाँ हरुआ को लग चुका है, उसे फिर से जानवर बनाए रखना संभव नहीं है।

यशपाल मध्यवर्गीय लेखक होने के बावजूद मध्यवर्गीय संस्कारों और सोच की तीखी आलोचना करते हैं। इस वर्गीय सोच के अतिक्रमण में ही वस्तुतः उनकी रचनात्मक सार्थकता की तलाश की जानी चाहिए। 'कुत्ते की पूंछ' बाल-श्रम के विरोध में लिखी गई उनकी एक उल्लेखनीय कहानी है। मध्य वर्ग की सोच की सबसे बड़ी सीमा यही है कि इस निम्न वर्ग के प्रति, जिसका प्रतीक वह लड़का हरुआ है, उसकी सारी कथित करुणा और मानवता एक दिखावा है और दूसरी बहुत सी चीजों की तरह ही वह भी उनके लिए सजावट और प्रदर्शन की चीज है। उनका वास्तविक लक्ष्य उसकी भलाई नहीं है। अपने लिए हासिल की गई वह सामाजिक प्रतिष्ठा है जो उन्हें दूसरों का हमदर्द और उस निम्न वर्ग के प्रति संवेदनशील बताकर सहज ही प्राप्त की जा सकती है। लेकिन कहानी के अंत में पति की टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि हरुआ की सहायता कोई नहीं कर सकता। अपनी सहायता वह स्वयं ही करेगा। चूंकि एक बार उसे आदमी बनने का चस्का लग गया है, इसलिए वह अपने ही प्रयत्नों और संघर्ष से देर-सबेर आदमी के रूप में ही अपनी पहचान बनाएगा। यह प्रक्रिया बहुत सरल और सीधी भले ही न हो, लेकिन जब वह ऐसा कर सकेगा तो अपने बारे में परिवार की मालकिन द्वारा प्रयुक्त सारे मध्यवर्गीय मुहावरे निरर्थक सिद्ध कर देगा और

जब ऐसा होगा तब वह हरुआ के रूप में अपना परिचय न देकर 'हरीश' के रूप में ही अपना परिचय देगा। मध्य वर्ग की सारी सोच और संस्कारगत सीमाओं के उद्घाटन के बाद भी, उसके विकास के संदर्भ में उसकी उल्लेखनीय भूमिका यही है कि अपने बारे में इस सच का पता उसे उसी के संपर्क में चला है। लेकिन उसकी वास्तविक यात्रा यहाँ से शुरू होकर और अगली मंजिलों की ओर होनी है।

16.6 'कुत्ते की पूछ' की भाषा शैली

पति द्वारा पत्नी के बौद्धिक स्तर पर की गई टिप्पणी से मध्यवर्गीय बुद्धीजीवी पुरुष की मानसिकता को समझाने के लिए यशपाल विशेष रूप से मुहावरों और व्यंग्य का उपयोग करते हैं। 'स्त्रियों से भी कला के विषय में बात की जा सकती है, खासकर जब परिचय नया हो परंतु स्वयं अपनी स्त्री से, जिसे आदमी रग-रोये से पहचानता हो बहस का विचार-विनिमय में क्या रस?' पत्नी की शिकायत पर कि पति कभी उनके साथ विचार-विनिमय या बहस नहीं करते तो सीधा सा जवाब मिलता है *"जिस व्यक्ति से विचारों की पूर्ण एकता हो, उससे बहस कैसी?"* यशपाल छोटे-छोटे व्यंग्यात्मक वाक्यों द्वारा पति का पत्नी के बारे में जो रवैया है उसे स्पष्ट करते जाते हैं।

यशपाल की कहानियों में विचार की भूमिका आधारभूत होती है। उसी विचार के अनुरूप वे पात्रों की अवतारणा करते हैं। "कुत्ते की पूंछ" कहानी रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से एक प्रतिनिधि कहानी है। इस कहानी में विचार ही मुख्य और महत्वपूर्ण हैं। यशपाल विचार के अनुरूप पात्र, स्थितियाँ और भाषा का चुनाव करते हैं। कला पर बातें करते-करते जब पत्नी का ध्यान कडाही में सोये बच्चे पर जाते ही, कला की चर्चा बीच में ही रोककर वह उस ओर बढ़ जाती है। पति इस असमय बात काटने और बीच में ही वार्तालाप बंद होने से चिढ़ जाता है और पत्नी के बारे में उसके मन में उठ रहे विचारों की अभिव्यक्ति यशपाल इस मुहावरे द्वारा करते हैं *"राजा कहानी कहे, रानी जूं टटोले।"* इस मुहावरे में पति की खीझ पूरी तरह उभर आई है। कहानी में पति-पत्नी के बीच होने वाली बहस की व्यर्थता के लिए वे ***'रेत के बोरे में चलाई जाने वाली संगीन'*** की उपमा द्वारा स्पष्ट करते हैं। हरुआ को संस्कारित करने वाली समूची प्रक्रिया को वे छोटे-छोटे ब्यौरों और व्यंग्य भरी उक्तियों से स्पष्ट करते हैं। जैसे *'हरीश के शरीर का मैल साबुन की झाग में घुल-घुल कर बह गया। वह सांवला सलोना बालक निकल आया।'* उसके शरीर में भी वैसा ही रक्त-माँस है जैसा कि और किसी के शरीर में।'

हरुआ को हरीश बनाने की प्रक्रिया में अपने ही बेटे से हो रहे विरोध को रोकते हुए श्रीमती जी अपनी समानतावादी सोच का परिचय देना चाहती है यह कहकर कि *'इस लड़के के भी दिमाग है। यह भी मनुष्य का बच्चा है और इसे मनुष्य बनाना भी हमारा कर्तव्य है।'* हालांकि यह उनकी मध्यवर्गीय सोच में शामिल है कि अपने स्वार्थ को छिपाने के लिए गरीबों पर दया दिखाने का नाटक वे करें। यशपाल ने श्रीमती जी की सोच और स्वार्थी प्रवृत्तियों को दर्शाने के लिए बहुत सटीक शब्दावली और व्यंग्य भरी उक्तियों का प्रयोग किया है।

स्थितियों के विकास के लिए वे पर्याप्त मौलिक और वर्गीय चेतना के अनुरूप उपमाओं और ब्यौरों का उपयोग करते हैं। 'जिस काम के लिए कहूँ कतरा जाता है।' 'पढ़ चुका यह। बस खाने की हाय-हाय लगी रहती है।' *'जाने कैसा भुक्कड़ है। इन लोगों को कितना ही खिलाओ, समझाओ, इनकी भूख बढ़ती जाती है।'*

हरीश द्वारा सूखने डाले गए कपड़े हवा में उड़ने पर, सारा दोष उसी पर मढ़ दिया गया और श्रीमती हरीश के लिए जिन लोकोक्तियों का प्रयोग करती है, वह हरीश के निम्न वर्ग के होने को न केवल उजागर करती है बल्कि जाति के साथ जोड़कर, उसकी योग्यता को आंकने लग जाती है। *'वही बात हुई न कि कुत्ते का गूं न लीपने का न पाथने का।'* अच्छी बला गले

पड़ गई। *'कम-जात कहीं अपनी आदत से थोड़े ही जाता है।'* श्रीमती की मध्यवर्गीय सोच हरीश की शारीरिक क्षमता का समुचित दोहन न कर पाने के कारण झुंझलाहट में तब्दील हो जाती है। हरीश के भीतर एक शोषित-पीड़ित मनुष्य की चेतना का विस्तार होता देख कर श्रीमती को गुस्सा आ जाता है। एक गरीब बालक उसके प्रति किए गए अच्छे व्यवहार के कारण जैसे-जैसे व्यावहारिक जीवन से परिचित होता जाता है, वैसे-वैसे उसमें इंसान होने तथा अपने अस्तित्व के प्रति चेतना जाग उठी थी। उसमें जाग उठे इस अहसास का पता श्रीमती और उनके पति को लग चुका था। बिशू को गोद में लेकर बैठे हुए श्रीमान के साथ सट कर खड़े होने की हरीश की ढिठाई, उन दोनों को ही खल जाती है। जिसे यशपाल उनके वर्गीय चेतना के अनुरूप उपमाओं द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। *'बंदर को मुँह लगाने से नोचेगा ही तो। इन लोगों के साथ जितनी भलाई करो, उतना ही सिर पर चढ़ आते हैं।'* इस व्यंग्यात्मक उक्ति द्वारा यशपाल ने समानता के व्यवहार को खारीज़ करने की मध्यवर्ग की सोच को श्रीमती के बहुत ही पैने शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है। यशपाल की कहानी की सफलता यही है कि 'विचार' को केंद्र में रखकर बुनी जाने के बावजूद स्थितियों के स्वाभाविक विकास और ब्यौरों के कारण वे पूरी तरह विश्वसनीय लगती है।

एक रचनाकार के नाते यशपाल सामाजिक परिवर्तन में व्यंग्य की भूमिका को बहुत अच्छी तरह समझते हैं। यह पूरी कहानी व्यंग्य की एक अंतर्धारा को संजोकर विकसित होती है। इस व्यंग्य के कारण ही वे मध्यवर्ग की मानसिकता उसके सोच और संस्कारों की सीमाओं को बहुत प्रभावी ढंग से उद्घाटित कर सके हैं। हिंदी में भारतेंदु से लेकर प्रेमचंद तक सामाजिक परिवर्तन में व्यंग्य की भूमिका का रचनात्मक उपयोग देखा जा सकता है। देश की स्वाधीनता के बाद सामाजिक विद्रूपताओं और अंतर्विरोधों के उद्घाटन की दृष्टि से उसका महत्व और बढ़ा है। समाज को आईना दिखाने की दृष्टि से उसकी सार्थकता को जिन लेखकों ने समझा उनमें हरिशंकर परसाई विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परसाई वस्तुतः यशपाल की इसी परंपरा के लेखक हैं। कहानी में मध्यवर्गीय पात्रों को अपना माध्यम बनाकर भी इसी व्यंग्य-मुद्रा द्वारा, यशपाल मध्यवर्गीय मानसिकता और सोच की सार्थक आलोचना की शुरूआत करते हैं।

यशपाल की कहानियाँ आकार की दृष्टि से छोटी होती हैं। बहुत धैर्यपूर्वक और सुनियोजित ढंग से वे कहानी को विकसित करते हैं। उनकी कहानियों में पात्रों की अपेक्षा 'आइडिया' विचार की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है। उनका मानना था कि पात्रों को आधार बनाकर लिखी गई कहानियाँ अपनी प्रकृति में रेखाचित्र के निकट आ जाती हैं। इसी कारण उनकी कहानियों में विचार की भूमिका आधारभूत होती हैं। उसी विचारं के अनुरूप वे पात्रों की अवतरणा करते हैं। उनकी रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से 'कुत्ते की पूंछ' को उनकी एक प्रतिनिधि कहानी माना जा सकता है। कहानी का 'विचार' ही मुख्य और महत्वपूर्ण है। उसी के अनुरूप पात्र, स्थितियाँ और भाषा का चुनाव वे करते हैं। स्थितियों के विकास के लिए वे पर्याप्त मौलिक और वर्गीय चेतना के अनुरूप उपमानों और ब्यौरों का उपयोग करते हैं। कभी वे पति-पत्नी के बीच होने वाली बहस की व्यर्थता के 'रेत के बोरे में चलाई जाने वाली संगीन' की उपमा द्वारा स्पष्ट करते हैं। हरुआ को संस्कारित करने वाली समूची प्रक्रिया को वे छोटे-छोटे जीवंत ब्यौरों और व्यंग्य भरी उक्तियों से स्पष्ट करते हैं। यशपाल की कहानियों की उल्लेखनीय सफलता यही है कि 'विचार' को केंद्र में रखकर बुनी ज़ाने के बावजूद स्थितियों के स्वाभाविक विकास और ब्यौरों के कारण वे पूरी तरह विश्वसनीय लगती हैं। इस दृष्टि से उनकी 'कुत्ते की पूंछ' को उनकी एक प्रतिनिधि कहानी माना जा सकता है।

16.7 सारांश

यशपाल द्वारा लिखित 'कुत्ते की पूंछ' कहानी के इस पाठ का आपने ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है। आपने अध्ययन के दौरान यह जरूर महसूस किया होगा कि यशपाल इस कहानी

के माध्यम से भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था से उपजी शोषण की विभिन्न प्रवृत्तियों को बड़ी कलात्मकता के साथ हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यशपाल चूंकि सक्रीय राजनीति से लेखन के क्षेत्र में आए थे और माक्सर्वादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण वे शोषण की सबसे बदसूरत शक्ल को वास्तविकता के साथ प्रस्तुत करते हैं।

कहानी मध्यवर्गीय संकुचित दायरे और मध्यवर्गीय नैतिकता की सच्चाई को रेखांकित तो करती ही है, सामंतवादी और पूंजीवादी सोच के अमानवीय शोषण के तरीकों को भी उजागर करती है। साथ ही यशपाल मानव में अस्तित्वबोध की चेतना के विस्तार को भी हरीश के माध्यम से स्पष्ट करते हैं।

लाला की दूकान पर एक आठ वर्ष के बालक हरुआ को दूर का रिश्तेदार छोड़ जाता है। लाला को अचानक यह बात भी याद आती है कि हरुआ के पिता ने उससे साठ रुपये कर्जा लिया था, कर्जा लौटाने से पहले ही वह मर जाता है। कर्जे के ऐवज में वह हरुआ से एक बड़े आदमी के बराबर काम करवाता है। यह पूंजीवादी व्यवस्था और उससे निर्मित नैतिक मूल्यों के अधःपतन को स्पष्ट करता है। लाला की दूकान पर बड़े-बड़े कड़ाहों को मांजते हुए उसी में वह सो जाता है। इससे हमें यह समझ लेना चाहिए कि कड़ाही कितनी बड़ी है और उसे मांजने वाला जीव कितना नन्हा सा। रात के साढ़े बारह बजे तक काम करवाने वाले लाला का मानवीय संवेदनाओं से दूर-दूर का नाता नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है। बालक के अतिरिक्त श्रम द्वारा लाला अपनी संपत्ति बढ़ा रहा है और बालक एक बंधुआ मजदूर बनकर रह जाता है। शोषण और मुनाफाखोरी की इस अमानवीय व्यवस्था को यहाँ का छोटा और बड़ा पूंजीपति सशक्त करने और इसे चलाए रखने में दिन-रात जुटा हुआ है। मानव की स्वतंत्रता उसके अस्तित्व और अधिकार को नकारने वाली यह जघन्य परंपरा आज लाखों-करोड़ों मजदूर, बाल मजदूरों के शोषण द्वारा जिंदा है। यशपाल शोषण से मुक्त एक वर्गहीन समाज रचना की आकांक्षा करने वाले मार्क्सवादी रचनाकार थे अतः उन्होंने शोषण और मुनाफाखोरी पर तीव्र प्रहार किया है। आर्थिक अभाव में बच्चों को बाल मजदूरी के लिए विवश करने वाले रिश्तेदार और माता-पिता की मजबूरी को भी हमें समझने में यह कहानी मदद करती है।

मध्यवर्ग अपने स्वार्थ और झूठे मूल्यों की बदौलत दिन-ब-दिन किस तरह अमानवीय और खोखला होता जा रहा है इसे भी इस कहानी में बड़ी ही खुबसूरती के साथ प्रस्तुत किया गया है।

16.8 प्रश्न/ अभ्यास

1. यशपाल प्रस्तुत कहानी के माध्यम से 'बाल मजदूरी' की अमानवीय प्रथा को उजागर करने में सफल हुए हैं? इस कथन का विस्तार कीजिए।
2. क्या आप मानते हैं कि श्रीमती जी का उद्देश्य हरुआ को बाल मजदूरी के कष्टप्रद जीवन से मुक्त कराना ही था? अपना मत कम से कम 250 शब्दों में बताइए।
3. 'मध्यवर्गीय नैतिकता के आडंबर को रेखांकित करने में यशपाल सफल हुए हैं।' इस कथन को विस्तार से बताइए।
4. हरीश में जगे 'अस्तित्व बोध के अहसास' का सविस्तार वर्णन कीजिए।
5. 'यशपाल मध्यवर्गीय नैतिकता के अधःपतन को रेखांकित करने में सफल हुए है।' इस कथन का विस्तार कीजिए।
6. 'कुत्ते की पूंछ' कहानी के आधार पर 'शोषण और मुनाफाखोरी' पर एक निबंध लिखिए। (लगभग 500 शब्दों में)

इकाई 17 पाजेब : जैनेन्द्र कुमार

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 बालमनोविज्ञान की कहानी : 'पाजेब'

17.3 मध्यवर्ग : भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति

17.4 मध्यवर्गीय मानसिकता और बदलते नैतिक मूल्य

17.5 कहानी का शिल्प

17.6 सारांश

17.7 प्रश्न/ अभ्यास

17.0 उद्देश्य

खंड 4 की यह सत्रहवी इकाई है। जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'पाजेब' पर आधारित इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- बालमनोविज्ञान पर आधारित इस कहानी में अभिव्यक्त बालमनोविज्ञान की सामान्य प्रवृत्तियों और बालसुलभ भावनाओं से परिचित हो सकेंगे,
- बालकों की चारित्रिक विशेषताओं को समझ सकेंगे,
- मध्यवर्ग में भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण आसक्ति और जीवन में इसे दिए गए विशेष महत्व को समझ सकेंगे तथा मध्यवर्गीय जीवन के प्रति आय की आलोचनात्मक दृष्टि का विकास हो सकेगा,
- मध्यवर्ग के अपने स्वार्थ और संकुचित दृष्टि के कारण बदलती मानसिकता तथा जीवन के बदलते मुल्यों का गंभीरता से विवेचन कर सकेंगे,

जैनेद्र कुमार की कहानी कला तथा शिल्प से परिचित हो सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

जैनेन्द्र की कहानियों क़ा पहला संग्रह सन् 1929 में 'फांसी' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह की सभी कहानियाँ आम आदमी के जीवन-यथार्थ को अपने में समेटती है। विचारों की प्रधानता के साथ-साथ जैनेन्द्र तत्कालीन राजनीतिक संदर्भों को भी अभिव्यक्त करती है। विचारों के प्रभाव की अधिकता में कई बार जीवन की वास्तविकता के संदर्भ इन कहानियों से छूट जाते हैं, कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र जीवन की वास्तविकता का लगभग तिरस्कार करके आगे बढ़ जाते हैं। 'पाजेब' कहानी में जीवन की एक छोटी-सी घटना को विस्तार दिया गया है। एक छोटी सी बच्ची के मन में पाजेब के प्रति उठी ललक के रूप में कहानी शुरू होती है। बुआ ने दी पाजेब को पाकर हुई खुशी को 'मुन्नी' सारे घर-आंगन में नाचती हुई प्रकट करती है। एक छोटा सा चांदी का आभूषण सारे घर में आनंद और उल्लास भर देता है। प्रस्तुत कहानी बालमनोविज्ञान पर आधारित है, जिससे लेखक की मनोवैज्ञानिक सूझबूझ के साथ मनोविज्ञान से गहरे परिचय का भी पता चलता है।

'पाजेब' कहानी में बच्चों की स्वाभाविक लालसाओं, इच्छाओं और प्रतिक्रियाओं का समावेश है, जैसे 'मुन्नी' में आभूषण के लिए स्वाभाविक लालसा है। बालक प्रायः

खिलौने चाहते हैं और उनसे खेलना उनकी स्वाभाविक गतिविधि है। इस कहानी का बच्चा आशुतोष साइकिल की माँग करता है, क्योंकि साइकिल उसके लिए एक खिलौने के समान ही है। बच्चों की अनेक प्रतिक्रियाओं तथा गतिविधियों के चित्रण से भी लेखक ने उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को कहानी में व्यक्त किया है। बालमनोविज्ञान से परिचित कोई लेखक ही ऐसा चित्रण कर संकता था और हमारे महाशय आशुतोष, जो मुन्नी के बड़े भाई थे, पहले तो मुन्नी को सजी-वजी देखकर बड़े खुश हुए। वह हाथ पकड़कर अपनी बढ़िया मुन्नी को पाजेब सहित दिखाने के लिए आस-पास ले गए। मुन्नी की पाजेब का गौरव उन्हें अघना भी मालूम होता था। वह खूब हंसे और ताली पीटी, लेकिन थोड़ी देर बाद वह ठुमकने लगे कि "मुन्नी को पाजेब दी, सो हम भी बाईसिकिल लेंगे।"

जैनेन्द्र की कहानी 'पाजेब' पहले 'पाजेब' नामक कहानी संकलन में छपी थी। फिर इसे उनके संग्रह 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' के दूसरे भाग में भी सम्मिलित किया गया, जो पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली से सन् 1953 ई. में छपा था। आधी शताब्दी के बाद भी जैनेन्द्र की यह कहानी प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है।

इस कहानी का उद्देश्य यह बताना भी है कि बच्चे प्रायः सच बोलते हैं और वे किसी विवशता या दबाव के कारण ही झूठ बोलते हैं अथवा डर या लालच के कारण ऐसा करते हैं। प्रायः देखा जाता है कि माता-पिता या परिवार के लोग उन पर संदेह करके या उन्हें डरा धमका कर झूठ बोलने या गलत व्यवहार करने के लिए विवश करते हैं। पाजेब के खो जाने को चोरी समझने और बच्चों पर संदेह करने से बल्कि उन पर आरोप लगाने से बच्चों पर जो कुछ बीतती है, उसका रोचक वर्णन इस कहानी में किया गया है।

17.2 बाल मनोविज्ञान की कहानी : 'पाजेब'

कहानी के पहले ही प्रसंग से बुआ द्वारा मुन्नी और आशुतोष के लाड़प्यार का संक्षिप्त वर्णन है। बुआ मुन्नी को पाजेब खरीद कर देती है, जिस से मुन्नी की आभूषण की लालसा की ओर संकेत शुरू में ही मिल जाता है। बुआ आशुतोष को उसके जन्मदिन पर साइकिल देने का आश्वासन देती है। परिवार में यदि एक बच्चे को कुछ दिया जाए तो दूसरे बच्चों में ईर्ष्या पैदा होती है। यह ईर्ष्या भी बच्चों की स्वाभाविक लालसा से उत्पन्न होती है। आशुतोष बुआ से कोई वस्तु नहीं पाता, पर साइकिल का आश्वासन पाकर संतुष्ट हो जाता है। मुन्नी द्वारा पाजेब की माँग और आशुतोष द्वारा साइकिल की माँग में केवल रूचि भेद का ही अंतर नहीं है, बल्कि जैविक अंतर भी है और परिवार में लड़की तथा लड़के के पालन-पोषण में किया जाने वाला अंतर भी है। परिवार में लड़के का जन्मदिन एक महत्वपूर्ण तिथि है, जिसे उल्लासपूर्वक मनाया जाता है, पर लड़की का जन्मदिन मनाने की परम्परा भारतीय परिवारों में प्रायः नहीं है। मुन्नी पाजेब पाकर फुदकती-नाचती सब को दिखाती फिर रही है और आशुतोष अपने जन्मदिन पर मिलने वाली साइकिल की कल्पना में मग्न है। उनकी बाल सुलभ चेष्टाओं का लेखक ने कुशल अंकन किया है। बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं, उनकी भोली चेष्टाओं की निर्व्याज अभिव्यक्ति कहानी के शुरू में ही मिल जाती है। यह मानो कहानी की प्रस्तावना है। प्रस्तावना में ही लेखक मनोवैज्ञानिक तेवर अपना लेता है, जो बालकों के आपसी संवादों, उनकी बाल सुलभ चेष्टाओं द्वारा प्रकट होता है।

इसके बाद एक पाजेब के न मिलने की सूचना दी जाती है। एक पाजेब का खो जाना चोरी में बदल जाता है। घर में अक्सर चीजें ठीक अवसर पर नहीं मिलती और खो भी जाती हैं, पर चाँदी की एक पाजेब का खो जाना परिवार के लिए एक महत्वपूर्ण घटना है। वह एक वस्तु की अनुपस्थिति नहीं आभूषण की अनुपस्थिति है। आभूषण का भारतीय मध्यवर्गीय परिवारों में विशेष महत्व है। इसलिए पाजेब का खोना तुरन्त चोरी में बदल जाता है। पाजेब भी एक वस्तु है, पर वह चाँदी की है, इसलिए उसका

खो जाना सरासर चोरी मान लिया जाता है। चोरी शक को जन्म देती है और शक के घेरे में घर का नौकर वंशी, फिर बालक आशुतोष और एक पड़ौसी का बालक छुन्नू आ जाते हैं। कहानी का सम्पूर्ण घटनाक्रम इस संक्षिप्त चोरी के चारों ओर घूमता है। एक मामूली घटना अनेक प्रसंगों में फैलती जाती है। वंशी, आशुतोष, छुन्नू से पूछताछ होती है, घरों में तनाव बढ़ता है और आशुतोष की माँ तथा पड़ौसन छुन्नू की माँ के बीच कहा सुनी हो जाती है।

कहा जा सकता है कि 'पाजेब' एक मामूली घटना (एक पाजेब का घर में न मिलना) पर आधृत एक कहानी है। निश्चित रूप से इस कहानी का आधार बड़ी मामूली घटना है, पर इस से लेखक ने यह संकेत देना चाहा है कि आधुनिक कहानी में घटना मुख्य नहीं रही, बल्कि घटना में निहित अर्थ मुख्य हो गया है। इस कारण छोटी से छोटी घटना कहानी का आधार हो सकता है, जैसे कोई मामूली व्यक्ति आधुनिक हिंदी उपन्यास का आधार हो सकता है। तो अब घटना का चित्रण, उसका विवरण कहानी की उत्कृष्टता की कसौटी नहीं रहा, बल्कि उस का निहितार्थ अथवा उसकी संवेदना की मार्मिकता मुख्य हो गई है। इस प्रकार 'पाजेब' कहानी एक मामूली घटना पर आधृत होकर भी गैरमामूली कहानी हो गई है।

कहानी का घटनाक्रम आगे बढ़ता है तो हम पाते हैं कि पिता द्वारा प्यार के प्रदर्शन, सच बोलने पर इनाम के लालच के बावजूद आशुतोष पाजेब चुराने के आरोप को स्वीकार नहीं करता। किंतु बार-बार पूछे जाने पर पूछताछ की यातना से मुक्ति पाने के लिए या किसी अज्ञात डर या आशंका के कारण वह स्वीकार कर लेता है कि उसने पाजेब छुन्नू को दी। बालक चोरी के आरोप से इंकार करने पर भी चोरी में शामिल कर लेता है। बालक बुद्धि को चोरी के आरोप से मुक्त होने के लिए यही मार्ग सूझा कि उसे छुन्नू के सिर डाल दे। उसने यह कल्पना भी नहीं की थी कि छुन्नू से भी पूछताछ की जाएगी और उसका झूठ पकड़ा जाएगा। उसका यह आचरण बाल मनोविज्ञान का सूचक है।

"मैंने बुलाकर कहा, 'अच्छा सुनो। देखो, मेरी तरफ देखो, यह बताओ कि पाजेब तुमने छुन्नू को दी है न?"

वह कुछ देर कुछ नहीं बोला। उसके चेहरे पर रंग आया और गया। मैं एक-एक छाया ताड़ना चाहता था। मैंने आश्वासन देते हुए कहा कि कोई बात नहीं। हाँ-हाँ, बोलो डरो नहीं। ठीक बताओ बेटे कैसा हमारा सच्चा बेटा है। मानो बड़ी कठिनाई के बाद उसने अपना सिर हिलाया। मैंने बहुत खुश होकर कहा कि दी है न छुन्नू को? उसने सिर हिला दिया।"

छुन्नू से पूछताछ की जाती है तो वह चोरी से इंकार करता है और आरोप को आशुतोष के कंधे पर सरका देता है। बच्चों का एक दूसरे पर यह आरोप-प्रत्यारोप बालक बुद्धि का ही परिचायक है। पर चोरी का आरोप अपने पुत्र पर लगते देख कर धुन्नू की माँ उसकी पिटाई करती है। दोनों बच्चों की माताओं में कहा सुनी होती है। बच्चे जो कल घनिष्ठ मित्र थे, आरोप-प्रत्यारोप के बीच एक दूसरे के शत्रु की तरह व्यवहार करते हैं। पाजेब की चोरी तो संदिग्ध थी, पर आशुतोष और छुन्नू के बीच तनाव, उनकी माताओं के बीच झगड़ा एक वास्तविकता बन गया।

छुन्नू की माँ तो कह रही है कि उसका लड़का ऐसा काम नहीं कर सकता। उसने पाजेब नहीं देखी। जिस पर आशुतोष की माँ ने कहा कि नहीं तुम्हारा छुन्नू झूठ बोलता है।

नतीजा यह हुआ कि छुन्नू की माँ ने छुन्नू को खूब पीटा ओर खुद भी रोने लगी। कहती जाती कि हाय रे, अब हम चोर हो गए। यह कुलच्छिनी औलाद जाने कब मिटेगी।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि पाजेब के खोने की मामूली घटना से निकलने वाले सूत्र फैलते जाते हैं और उनमें उलझनें पैदा होने लगती हैं। ये उलझनें विभिन्न पात्रों के द्वंद्व तथा अंतर्द्वंद्व को कुशलता से चित्रित कर जाती हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि लेखक का बल किसी घटना या प्रसंग के विस्तृत वर्णन पर नहीं है, बल्कि उससे उत्पन्न मानसिक उथल-पुथल, चित्तवृत्तियों के परिवर्तनों पर है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इस कहानी में बाह्य स्तर पर जो कुछ घटित होते दिखाया गया है, उससे अधिक आन्तरिक स्तर पर घटित होते दिखाया गया है। ऐसा जैनेन्द्र की कहानियों में अक्सर दिखाई देता है। कहा जा सकता है कि लेखक का बल बाह्य घटना के बजाए आन्तरिक घटना पर अधिक है।

कहानी के इस हिस्से में कहानीकार ने पाजेब की तथाकथित चोरी के प्रसंग को लेकर छोटी-छोटी घटनाओं या प्रसंगों का जो तानाबाना बुना है, उसमें बच्चों के साथ उनके परिवार के व्यक्ति भी शामिल कर लिए गए। रोचक बात यह है कि पहले आशुतोष और छुन्नू चोरी से इन्कार करते हैं, बाद में डराने धमकाने पर उसे स्वीकार कर लेते हैं और उस आरोप को एक दूसरे पर डाल कर उससे मुक्ति पाने की कोशिश करते हैं। इन बाल सुलभ-चेष्टाओं से बाल मनोविज्ञान उद्‌घाटित होता है।

कहानी में दूसरा मोड़ शाम को उपस्थित होता है, जब दफ्तर से लौट कर आशुतोष के पिता को सूचना मिलती है कि आशुतोष ने पाजेब की चोरी के रहस्य को खोल दिया है और उसने सब कुछ बता दिया है। बाप के डर से आशुतोष जो कुछ नहीं बता सकता था, वह सब कुछ उसने माँ की ममता के आगे उडेल दिया। बाप से बच्चे डरते हैं और माँ को अपना हमराज़ समझते हैं, यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। बाल मनोविज्ञान के इस तथ्य का उद्‌घाटन लेखक ने बड़े सहज ढंग से कर दिया है।

"शाम को दफ्तर से लौटा तो श्रीमती ने सूचना दी कि आशुतोष ने सब बतला दिया है।

कहने लगी कि मैंने बड़े प्यार से पूछ-पूछकर यह सब उसके पेट से निकाला है। दो-तीन घंटे मैं मगज मारती रही। हाय राम, बच्चे का भी क्या जी होता है।"

गहरी से गहरी बात को सरल शब्दों, छोटे छोटे वाक्यों और संक्षिप्त संवादों से कह देने की कला में जैनेन्द्र माहिर हैं। उनकी कहानी कला की यह विशेषता यों तो इस पूरी कहानी में विद्यमान है, पर कहानी के इस भाग में भी उसके दर्शन होते हैं।

"मुझे क्रोध आने लगा डपटकर कहा कि सच क्यों नहीं बोलते जी? सच बताओ कितनी इकन्नियाँ थी और कितना क्या था?"

वह गुम-सुम खड़ा रहा, कुछ नहीं बोला।

"बोलते क्यों नहीं?"

वह नहीं बोला।

"सुनते हो! बोलते नहीं तो....."

आशुतोष डर गया। और कुछ नहीं बोला।

इस बार भी वह नहीं बोला तो मैंने पकड़कर उसके कान खींच लिए। वह बिना आँसू लाए गुम-सुम खड़ा रहा।

"अब भी नहीं बोलोगे?"

वह डर के मारे पीला हो आया। लेकिन बोल नहीं सका।

आशुतोष शाम तक स्वीकार कर लेता है कि उसने पाजेब छुन्नू को दी, जिसने उसे पाँच आने में पतंग वाले को बेच दिया। वह स्वयं दूर खड़ा रहा और छुन्नू पाजेब लेकर

पतंग वाले के पास गया, इसलिए वह पाजेब की चोरी में शामिल नहीं है। यह भोला तर्क बालक को ही शोभा देता है। बालक प्रायः सच बोलते हैं, पर जब आशुतोष के इस सच को, कि उसने चोरी नहीं की, पिता द्वारा स्वीकार नहीं किया गया और उसे निरन्तर संदेह की दृष्टि से देखा जाता रहा तब उसने अपनी जान बचाने के लिए छुन्नू का नाम ले दिया। सच को ठुकराए जाने पर ही उसने झूठ की शरण ली। तात्पर्य यह है कि आशुतोष को पिता की संदेहपूर्ण दृष्टि से बचने के लिए झूठ बोलना पड़ा।

आशुतोष और छुन्नू में दोस्ती है, पर अपनी जान बचाने के लिए उसने छुन्नू के कंधे पर चोरी का आरोप रख दिया। क्षण भर में दोस्ती शत्रुता में बदल गई और छुन्नू उसे घृणा भरी नजरों से देखने लगा। पर शाम तक आशुतोष और छुन्नू के बीच का तनाव समाप्त हो गया था, क्योंकि दोनों गली में गिल्ली डंडा खेल रहे थे। यहाँ भी बाल मनोविज्ञान की झलक मिलती है। बच्चों का निर्मल हृदय घर के दूषित वातावरण अथवा माता-पिता द्वारा किए गए गलत व्यवहार से भी दूषित होता है, यह भी कहानी के इस भाग में ध्वनित होता है।

शाम को पिता ने आशुतोष को आदेश दिया कि पतंग वाले को पाँच आने लौटा कर पाजेब वापस ले आओ। पर आशुतोष तैयार नहीं हुआ, क्योंकि पाँच आने छुन्नू ने लिए थे। छुन्नू ने वे खर्च कर दिए या नहीं, यह उसने स्पष्ट नहीं किया। कभी वह 'हाँ' कहता; कभी 'ना', जिसका एक मतलब यह था कि दोनों ने मिल कर पैसे उड़ा दिए और दूसरा अर्थ यह था कि वह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि पिता को क्या उत्तर दे। इसके उत्तरों से यह ध्वनि भी निकलती थी कि एक आवश्यकता आ पड़ी थी और वह यह नहीं सोच पा रहा था कि दूसरा झूठ कौन सा गढ़े। क्योंकि आशुतोष बच्चा था, कोई चालाक गवाह नहीं, जो अवसर के अनुकूल झूठ गढ़ लेता है। उसकी दुविधा बढ़ती गई और उस मन-स्थिति में वह पतंग वाले से पाजेब वापस लाने को तैयार नहीं हुआ। पिता ने उसे कोठरी में बंद कर दिया, पर आशुतोष जिद्दी बालक की तरह अपनी जिद पर अड़ा रहा। बालक आशुतोष के व्यवहार से उस की द्वंद्वग्रस्त मनःस्थिति स्पष्ट होती है और जिद्दी बालक के मनोविज्ञान का भी पता चलता है।

17.3 मध्यवर्ग : भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति

कहानी के तीसरे भाग में घटनाक्रम उत्कर्ष की ओर बढ़ता है। आशुतोष को चाचा के साथ पतंग वाले के पास जाने के लिए विवश किया जाता है। पहले तो वह न जाने की जिद पर अड़ा रहा। समझाने बुझाने, फुसलाने डराने के बाद वह चाचा के साथ गया भी तो रास्ते से लौट आया। उसका सबसे बड़ा डर यह है कि पिता के दबाव में आकर वह जो झूठ बोला है (यद्यपि उसे सच के रूप में कहा गया है) उसकी पोल खुल जाएगी और उसका झूठ पकड़ा जाएगा। पिता के दबाव में आकर या बार-बार की पूछताछ से बचने के लिए अथवा अपने पर किए गए संदेह की दिशा को छुन्नू की ओर मोड़ने के लिए उसने झूठ बोल दिया और समझ लिया कि मुसीबत टल गई। पर एक झूठ दूसरे झूठ को जन्म देता है या दूसरे झूठ की भूमिका तैयार कर देता है। इस प्रकार झूठ की एक शृंखला बन जाती है और आदमी अनचाहे उसमें फँस जाता है।

रास्ते से लौट आने पर पिता द्वारा आशुतोष को फिर कोठरी में बंद कर दिया जाता है। पिता ने यह समझा था कि सख्ती करके वह बेटे को सीधे मार्ग पर ले आएगा, पर उसकी सख्ती बेकार गई। जब कोठरी का दरवाजा खोला गया तो आशुतोष को मजे से सोता हुआ पाया गया। बालक के साथ ज्यादा सख्ती करके भी उसकी जिद पर काबू नहीं पाया जा सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसकी ओर कहानीकार ने बड़ी सहजता से संकेत कर दिया है। जिद किसी व्यक्ति का प्रकट दृढ़ निश्चय हो सकता है, पर वह एक प्रतिक्रिया भी हो सकती है, जो किसी बात का विरोध करने के लिए अथवा झूठ को सच सिद्ध करने के असफल कोशिश के उद्देश्य से व्यक्त हो सकती है। आशुतोष का व्यवहार इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

जब कोठरी में बंद करना व्यर्थ गया तो पिता ने उसे एक रुपया देकर, फुसला कर, लालच देकर चाचा के साथ पतंग वाले के पास जाने का आदेश दिया। बालक पर सख्ती का असर नहीं हुआ था, पर एक रुपये का लालच काम कर गया और आशुतोष चाचा के साथ पतंग वाले के पास जाने को तैयार हो गया। यहाँ एक दूसरा मनोवैज्ञानिक तथ्य सामने आया कि बच्चे को वांछित मार्ग पर लाने के लिए सख्ती के बजाए उसे ललचा कर, बहला कर काम चलाना अधिक उपयुक्त है। इस प्रसंग से यह भी प्रकट होता है कि बच्चे को फुसलाना आसान है और सख्ती करने से अथवा पिटाई करने से वह जिद्दी और ढीठ हो जाता है।

कहानी अपने उत्कर्ष पर अंत में वहाँ पहुँचती है, जहाँ आशुतोष की बुआ प्रकट होकर सूचना देती है कि पाजेब गलती से उसके साथ चली गई थी और वह पाजेब निकाल कर सामने रख देती है। अंत में जब रहस्य खुलता है कि पाजेब की चोरी ही नहीं हुई थी और उसके खोने की चोरी मान लिया गया था, तब आशुतोष और छुन्नू पर लगाए गए चोरी और झूठ बोलने के आरोप कितने व्यर्थ लगते हैं। आशुतोष के हाथ में पतंग देखकर अनुमान लगा लिया गया कि वह पतंग वाले को पाजेब बेच कर पतंग खरीद कर लाया होगा।

'पाजेब' कहानी के अंतिम भाग से पता चलता है कि लेखक ने जिस रहस्य को कहानी में दूर तक छिपाए रखा, उसे उपयुक्त समय पर उद्घाटित करके औपन्यासिक युक्ति का इस्तेमाल किया, जिससे पाठकों को जिज्ञासा-तृप्ति का सुख मिलता है। इससे कहानी की रोचकता में भी वृद्धि हुई है।

उक्त रहस्य के उद्घाटन से कहानी की दिशा ही बदल जाती है, पर कहानी घटनाक्रम की दृष्टि से अपने उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। पश्चिमी साहित्य-सिद्धांत के अनुसार उत्कर्ष (climax) के बाद anti-climax का भी विधान है। पर कहानी समाप्त हो जाती है, अर्थात् इस की कथा वस्तु में कोई उतार या anti-climax नहीं है। पर कहानी का अंत बड़ा आकस्मिक और इसलिए रोचक है। कहानी का उत्कर्ष पर पहुँच कर समाप्त हो जाना चौंकाने वाला है और इसलिए कैसे शुरू की जाए और कैसे उसका अंत किया जाए, यह कहानी लेखक की कहानीकला का महत्वपूर्ण अंग है। इस संदर्भ में जैनेन्द्र अपने लेखकीय कौशल का परिचय देते हैं।

'पाजेब' कहानी के तीसरे मोड़ पर आशुतोष पर दबाव डाला जाता है कि वह अपने चाचा के साथ पतंग वाले की दुकान पर जाकर पाँच आने उसे लौटा कर पाजेब वापस लाए। इसके लिए पहले वह तैयार नहीं हुआ। बाद में वह गया भी तो रास्ते से भाग आया। उसे डर था कि वह पतंग वाले से क्या कहेगा, क्योंकि उसने पतंग वाले को छुन्नू द्वारा पाजेब बेचने की मनगढंत कहानी पिता को बताई थी। वह सोचता था कि पतंग वाले का सामना किस मुँह से करेगा। इसी ऊहापोह में वह रास्ते से लौट आया। इस से बालक की मानसिक स्थिति का, उस की दुविधा का पता चलता है। दुविधा का कारण उसकी यह चिन्ता है कि उस का झूठ पकड़ा जाएगा, वह झूठ जो उसने पिता द्वारा निरन्तर पूछताछ से तंग आ कर बोला था।

इससे यह मनोवैज्ञानिक तथ्य सामने आता है कि बच्चे प्रायः सच बोलते हैं, पर किसी दबाव या लालच के कारण वे झूठ का सहारा लेने पर विवश होते हैं। झूठ बोलना उन की विवशता हो सकती है, स्वभाव नहीं।

रास्ते से भाग आने के बाद आशुतोष को कोठरी में बंद कर दिया गया, जहाँ उसने मुक्ति की सांस ली और सो गया। पिता ने जब उसे एक रुपया देकर ललचाया तो वह पतंग वाले के पास जाने को तैयार हुआ। इस प्रकार पिता द्वारा की गई सख्ती काम नहीं आई, एक रुपए का लालच उसे पतंग वाले के पास जाने के लिए तैयार कर गया। इससे स्पष्ट होता है कि सख्त व्यवहार अथवा मारपीट से बच्चे जिद्दी हो जाते हैं, प्यार दुलार या लालच से उन्हें वांछित दिशा की ओर मोड़ा जा सकता है।

उसी समय बुआ ने प्रकट होकर पाजेब के खोने का रहस्य खोल दिया कि वह गलती से उसके सामान के साथ चली गई थी। तात्पर्य यह कि पाजेब की चोरी हुई ही नहीं थी। पाजेब न मिलने को चोरी मान लिया गया। इस प्रकार उत्कर्ष पर पहुँच कर कहानी समाप्त हो गई।

'पाजेब' कहानी का उद्देश्य बालकों के मनोविज्ञान को स्पष्ट करना है। उन के मनोविज्ञान को समझ कर ही माँ बाप उनके साथ संतुलित व्यवहार कर सकेंगे।

बच्चों में खिलौनों की स्वाभाविक लालसा होती है और बच्चियों में आभूषण पाने की। इसीलिए मुन्नी को बुआ द्वारा पाजेब मिली और आशुतोष को साइकिल का आश्वासन। साइकिल जन्मदिन पर मिलती। तब वह बाजार से पतंग ले आया। बालक की यह स्वाभाविक चेष्टा है।

इसी बीच पाजेब खो गई, जिसे घर के लोगों ने चोरी समझ लिया। चोरी का आरोप घर के नौकर वंशी पर, फिर आशुतोष पर लगा। इस मुसीबत से बचने के लिए पिता द्वारा धमकाए जाने पर आशुतोष ने चोरी का आरोप स्वीकार कर लिया, पर उसने छुन्नू को भी फँसा लिया। बच्चे अक्सर ऐसा करते हैं, जिसके कारण उन में लड़ाई होती है और फिर आसानी से सुलह भी। दोनों बच्चे चोरी का आरोप एक दूसरे पर लगाते हैं, जिसको लेकर उनकी माताओं में कहा सुनी हो जाती है। दोनों की माताएँ, यदि बाल मनोविज्ञान को समझतीं तो उनमें लड़ाई न होती। लेकिन 'पाजेब' के चोरी होने से एक मध्यवर्गीय परिवार में अशांति का वातावरण पैदा हो गया। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक वस्तुओं के प्रति इनके मन में असीम लालसा है जिसकी तृप्ति के लिए या चाहने पर वे सभी तरह के मनोवैज्ञानिक दबाव का प्रयोग करने से भी नहीं चूकते।

दिन भर आशुतोष मुँह फुलाए रहा और पिता के सामने उस ने पहले चोरी का आरोप स्वीकार नहीं किया। बाप से डर कर जो वह नहीं कह सका, उस ने माँ के सामने कह दिया। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि बाप से बच्चे डरते हैं और उससे एक दूरी रखते हैं, पर माँ उनकी हमराज़ होती है।

शाम को पिता ने आशुतोष को आदेश दिया कि छुन्नू को साथ लेकर पतंग वाले के पास जाए और छुन्नू से उसे पाँच आने वापस दिला कर अपनी पाजेब लेकर आए। उसकी मुसीबत फिर शुरू हो गई और छुन्नू के साथ गली में गिल्ली डंडे का खेल रुक गया। दोनों बालकों ने फिर एक दूसरे के विरोधी की भूमिका सँभाल ली। बच्चों की दोस्ती और दुश्मनी क्षणिक होती है, स्थायी नहीं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य भी इस कहानी से उजागर होता है।

उत्कर्ष पर पहुँच कर कहानी का अंत रोचक हो गया है। इस रोचकता में पाजेब का आकस्मिक रूप में मिल जाना भी सहायक हुआ। इस रोचक अंत और आकस्मिकता से लेखक की कहानी कहने की कला का परिचय मिलता है। छोटे-छोटे वाक्यों, सरल शब्दों, स्वाभाविक संवाद योजना, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के समावेश से जैनेन्द्र एक कुशल कहानीकार सिद्ध होते हैं।

17.4 मध्यवर्गीय मानसिकता और बदलते नैतिक मूल्य

जैनेन्द्र ने पाजेब कहानी के माध्यम से नौकरीपेशा मध्यवर्ग की मानसिकता में आ रहे बदलाव की आरे संकेत किया है। शहरीकरण और पूँजी के बढ़ते हुए वर्चस्व के कारण मानवीय संबंधों में तेजी से बदलाव आने लगा था। नई कहानी के दौर के सभी लेखकों की रचनाओं में इस बदलते हुए जीवन संदर्भों को यथार्थवादी, मनोविश्लेषणवादी और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से जाँच-परख कर प्रस्तुत किया। जीवन मूल्यों के तेजी से बदलने का वह समय था। व्यक्ति का जीवन इतना सरल नहीं रह

गया था जैसा कि कुछ समय पहले तक वे तत्व मौजूद थे। आपसी संबंधों में संदेह और अविश्वास पैदा होने लग गया था। आर्थिक और राजनीतिक दबाव ने व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संदेह का वातावरण तैयार कर दिया था। एक प्रकार के भय से आक्रांत मध्यवर्ग कई-कई आशंकाओं को अपने मन में पालने लग गया था। संयुक्त परिवार के विघटन ने मध्यवर्ग को भयाक्रांत कर दिया था। जीवन के आदर्शों से वह हटने लगा था। व्यवस्था में आए बदलाव ने आपसी रिश्ते-नातों पर भी आघात करना प्रारंभ कर दिया था। इन्हीं बदलते हुए संबंधों, आशंकाओं और संदेहों के माध्यम से जैनेन्द्र ने 'पाजेब' के माध्यम से मध्यवर्गीय मानसिकता में आए बदलाव को चित्रित किया है। व्यवस्था के अंतर्विरोधों को उघाड़ने में पारिवारिक संबंधों के बीच आ बैठे संदेह ने पिता ने पुत्र पर दबाव डालकर न हुई चोरी को कबुलने के लिए मजबूर कर दिया। यहाँ केवल बेटे द्वारा एक अपराध होने की या चोरी करने की मात्र आशंका से मध्यवर्गीय नीति मूल्यों के टूटने की पीड़ा पिता को घेर लेती है।

आशुतोष का प्रत्येक हाव-भाव, उसके दोस्त छुन्नू के साथ उसका पतंग उड़ाना आदि बाल सुलभ खेल को संदेह की नजर से देखा जाना, तत्कालीन समय में आर्थिक दबाव के कारण बदलते जीवन मूल्यों की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। नैतिक मूल्यों की वास्तविक शिक्षा बाल्यकाल में ही दी जानी चाहिए, इस समय दंड और पुरस्कार देकर बच्चों में इन मूल्यों का विकास किया जा सकता है जो एक बालक की प्रवृत्तियों के अनुकूल ही है। लेकिन जैसे ही दंड और पुरस्कार को कठोर अनुशासन के तौर पर इस्तेमाल किया जाएगा तो नैतिक विकास की दिशा विपरीत हो जाएगी। परिवार में नैतिक मूल्यों की एकरूपता बालक के नैतिक विकास के लिए अति आवश्यक है। पिता का नैतिक मूल्यों के प्रति अति आग्रह और आशुतोष में इन मूल्यों के विकास के अभाव की शंका ने पिता को कठोर शासन करने पर मजबूर कर दिया था। यहाँ हम देख रहे हैं कि अपने पक्ष की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए परिवार ने आशुतोष को संदेह के घेरे में लेकर एक अस्त्र की तरह इस्तेमाल किया। बल्कि अस्तित्व को नकारकर उसके निजी क्षेत्र में अर्थात् उसके निर्णय लेने अथवा उसके कहे गए सच को न मानकर उसे अंत में झूठ बोलने पर मजबूर किया जाना। मध्यवर्ग कि इस उधेड-बुन अवस्था उसकी अर्थ की समस्याओं का ही परिणाम है। व्यक्ति जितना आर्थिक समस्याओं से जूझता जाता है उतना ही वह इस उधेड़-बुन में फंसता चला जाता है। अपने ऊपर या परिवार जनों पर से विश्वास उठना व्यक्ति के जीवन में हो रहे उतार-चढ़ाव का ही प्रतिबिंब होता है।

आशुतोष के माता-पिता एक विशिष्ट दायरे में घुमते हुए नजर आते हैं, सामाजिक यथार्थ से एकदम निरपेक्ष अपनी ही समस्याओं से घिरे हुए। उनका संघर्ष व्यक्ति के अंतर्मन में अधिक चलता है, सतह पर कम दिखता है। पाजेब खो जाने की घटना से परिवार के सदस्यों का चिंतित हो जाना स्वाभाविक है लेकिन जीवन की अन्य समस्याओं के प्रति उदासीन होकर केवल पाजेब की चोरी तक ही इसे सीमित किए जाने से यह केवल पारिवारिक समस्या बन कर रह जाती है। इसका सामाजिक पक्ष इसमें निहित नहीं है। सारा संघर्ष भीतरी है, व्यक्ति के मन के भीतर चलता है, समाज के भीतर नहीं।

मध्यवर्ग की संकुचित दायरे में केवल अपने तहत् सोचने की मानसिकता का जैनेन्द्र ने वास्तविक चित्रण इस कहानी के माध्यम से किया है। जैनेन्द्र की यह विशेषता है कि व्यक्ति के मन के भीतर चलने वाले द्वंद्व और उथल-पुथल को अभिव्यक्त करना, यही उनकी कहानी का लक्ष्य भी होता है। इसलिए 'पाजेब' कहानी में केवल एक परिवार के आंतरिक संबंधों, आपसी मतभेद, उतार-चढ़ाव, व्यक्तिगत समस्याओं को ही महत्व दिया गया है। कहानी में केवल एक घटना है और उसके इर्द-गिर्द सभी पात्र घुमते रहते हैं। घटना बहुलता नहीं है, सामाजिक सरोकारों को अभिव्यक्त करने या संबंध होने का जैसे कोई औचित्य ही नहीं है।

17.5 कहानी का शिल्प

किसी लेखक की कहानी कला का सम्यक् विवेचन उस की संपूर्ण कहानियों के आधार पर ही किया जा सकता है, पर उसकी प्रतिनिधि कहानियों के आधार पर भी कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। 'पाजेब' जैनेन्द्र की एक प्रतिनिधि कहानी है, जो उनकी कहानीकला की कुछ विशेषताओं से भी पाठकों का परिचय कराती है। नीचे इसी कहानी को आधार बना कर लेखक की कहानी के शिल्प पर विचार किया जा रहा है।

प्रेमचंद युगीन हिंदी कहानी में वर्णनात्मकता और घटना प्रधानता का आग्रह अधिक प्रचलित था, पर आगे चल कर जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि कहानीकारों ने पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा आंतरिक उथल पुथल की अभिव्यक्ति को मनोवैज्ञानिक कहानी कहना शुरू किया। प्रेमचन्द्र और उनके युग के कहानीकारों की कहानियों में मनोविज्ञान की उपेक्षा नहीं की गई थी, पर उनमें घटना के वर्णन का महत्व सर्वोपरि था। हिंदी कहानी में मनोवैज्ञानिक तथ्यों के समावेश और मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति को प्रचलित करने का श्रेय जैनेन्द्र और उन जैसे कहानीकारों को दिया जा सकता है।

'पाजेब' भी एक मनोवैज्ञानिक कहानी है, जिसमें चित्रित घटनाएँ गौण अथवा प्रासंगिक है। पूरी कहानी बाल-मनोविज्ञान पर आधृत है। बालकों की छोटी-छोटी इच्छाएँ, उनके बाल सुलभ कामों, क्षण में शत्रुता और क्षण में दोस्ती का व्यवहार, खिलौने और आभूषणों से प्रेम आदि बाल सुलभ प्रवृत्तियों को इस कहानी में दिखाया गया है। मुन्नी का पाजेब की फरमाइश करना और आशुतोष द्वारा साइकिल की इच्छा अत्यन्त स्वाभाविक है। इन दोनों बालकों के अतिरिक्त छुन्नू के चरित्र का चित्रण भी स्वाभाविक एवं यथार्थ है।

चरित्र चित्रण के लिए जैनेन्द्र ने प्रमुख रूप से दो विधियाँ अपनाई है। एक तो पात्रों की गतिविधियों अथवा कार्यकलापों का संक्षिप्त वर्णन और दूसरी विधि है पात्रों के संक्षिप्त तथा स्वाभाविक संवाद। पाजेब पाकर मुन्नी का फुदकना और उसे सब को दिखाते फिरना उसकी आभूषण प्रियता को उजागर कर देता है। आशुतोष जन्म दिन पर साइकिल का आश्वासन पाकर संतुष्ट तो हो जाता है, पर उसे मुन्नी की तरह कोई वस्तु नहीं मिली। इसलिए वह पतंग खरीद लाता है। ये क्रिया कलाप बालकों के स्वभाव के अनुकूल है।

इसी प्रकार आशुतोष द्वारा छुन्नू को चोरी के आरोप में शामिल करने पर छुन्नू का बदला हुआ व्यवहार और अपने बचाव की कोशिश में आशुतोष पर प्रत्यारोप लगाना बाल सुलभ चेष्टाएँ हैं। आशुतोष द्वारा चाचा के साथ पतंग वाले के पास जाते हुए रास्ते से भाग आना उसके अंर्तद्वंद्व तथा तनाव ग्रस्त मानसिकता को प्रकट करता है।

इस कहानी के पात्रों के अनुकूल, अवसर के अनुकूल संवाद भी लेखक की कहानीकला के वैशिष्टय हैं। प्रायः संवाद लम्बे नहीं हैं। कहीं-कहीं एक दो शब्दों से, 'हाँ' या 'ना' से और कभी मौन से काम चलाया गया है। आशुतोष और उसके पिता के बीच हुए संवाद ऐसे ही हैं। आशुतोष की माँ और छुन्नू की माँ के बीच हुए संवाद दोनों की संकीर्ण सोच को स्पष्ट करते हैं। वे पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के द्योतक हैं।

'पाजेब' एक चरित्र प्रधान कहानी है, जिसमें लम्बी चौड़ी घटनाएँ नहीं घटतीं। घर में पाजेब का खो जाना और खोने को चोरी समझ लेना एक मामूली घटना है। इसलिए इस कहानी का कहानीपन घटना के वर्णन में निहित नहीं है, बल्कि बालक पात्रों के चरित्र चित्रण द्वारा बाल-मनोविज्ञान की कुशल अभिव्यंजना में निहित है। चरित्र प्रधान कहानी की सफलता पात्रों के कुशल चरित्रांकन पर अवलम्बित है। जैनेन्द्र की

कहानीकला का एक सशक्त पक्ष उनका चरित्र चित्रण है और चरित्र चित्रण के समय भी बाह्य घटनाओं पर लेखक उतना बल नहीं देता, जितना आन्तरिक दबावों, भीतरी हलचल और भावों के उत्थान पतन पर देता है। कहा जा सकता है कि 'पाजेब' कहानी बाहर की तरफ उतनी नहीं फैलती, जितनी वह भीतरी गहराई में उतरती है। यह विशेषता उनकी अनेक कहानियों में मिलती है।

जैनेन्द्र की कहानी-कला का एक महत्वपूर्ण बिंदु यह भी है कि वे द्वंद्व तथा अंर्तद्वंद्व के चित्रण में बड़े कुशल हैं। उनकी कहानियों में और 'पाजेब' में चित्रित द्वंद्व भी बड़े मानवीय संघर्ष नहीं हैं, पर कहानी के मूल में कोई द्वंद्व निहित होता है। यह बाह्य क्रियाकलापों में भी व्यक्त होता है, पर उन से अधिक वह अंर्तद्वंद्व के रूप में सामने आता है। 'पाजेब' कहानी में मुख्य रूप से बालक आशुतोष के अंर्तद्वंद्व को व्यक्त किया गया है, जिससे उसके चरित्र के यथार्थ चित्रण में भी सहायता मिली है। यों द्वंद्व की स्थिति आशुतोष और उसके पिता के बीच, आशुतोष और छुन्नू के बीच, दोनों बालकों की माताओं के बीच भी है।

कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र की रूचि घटनाओं के विस्तृत वर्णन में उतनी नहीं है, जितनी घटनाओं के संदर्भ में होने वाले मानसिक परिवर्तनों और अंर्तद्वंद्व के अंकन में है। इस विधि से उन्हें बाल-मनोविज्ञान को स्पष्ट करने में भी मदद मिली है।

जैनेन्द्र की कहानियों की भाषा, विशेषतः 'पाजेब' की भाषा पर विचार किया जाए तो कहना होगा कि गहरी से गहरी बात को सरल शब्दों, छोटे-छोटे वाक्यों, संक्षिप्त संवादों और शहर के मध्यवर्ग की बोलचाल की भाषा में कह देने की कला में वे माहिर हैं। उनकी बोधगम्य पैनी भाषा पाठकों के मन में उतरती जाती है। उनकी भाषा के पीछे उनकी दार्शनिकता, उनका अध्ययन और जीवन जगत का व्यापक अनुभव बोलता है। इसलिए उनकी भाषा प्रायः विशेष अर्थगर्भित हो गई है, जो मुख्यार्थ का अतिक्रमण कर अन्य अर्थध्वनियों की ओर अग्रसर होने लगती है।

'पाजेब' कहानी जब उत्कर्ष पर पहुँचती है तो उसका अंत हो जाता है। इसमें उत्कर्ष तो है, पर उतार नहीं है। इससे कहानी का अंत आकस्मिक हो गया है, जो पाठकों की उत्सुकता को शांत करते हुए रोचक हो गया है। कहानी कैसे शुरू की जाए और कैसे उसका अंत हो, यह किसी लेखक की कहानीकला का महत्वपूर्ण अंग है। जैनेन्द्र इस संबंध में अपने लेखकीय कौशल का परिचय देते हैं। कहानी के अंतिम भाग में बुआ द्वारा यह रहस्योद्घाटन कि पाजेब गलती से उसके सामान के साथ चली गई थी, आकस्मिकता तथा रहस्य के तत्वों के सन्निवेश का संकेत देता है। आकस्मिकता और रहस्य को भी जैनेन्द्र की कहानीकला की विशेषताएँ माना जा सकता है। यह रहस्य कहीं किसी गोपनीय बात के रूप में होता है, जैसा कि 'पाजेब' कहानी में है और कहीं आकस्मिकता के रूप में जिसके कार्यकलाप बहुधा रहस्यमय होते हैं।

कहानीकला का संबंध कहानी के शीर्षक से भी है। शीर्षक एक नाम है, पर नाम का जीवन में भी महत्व है और साहित्यिक कृतियों में भी। पर साहित्यिक कृति में नाम का भी महत्व है। कहानी का नाम उसकी प्रकृति की ओर कुछ न कुछ संकेत अवश्य करता है। 'पाजेब' कहानी का शीर्षक सार्थक तथा उपयुक्त है। पाजेब के खोने पर पूरी कहानी चलती है और वह कहानी में व्यक्त सारे द्वंद्वों तथा अंतर्द्वंद्वों की जड़ है। सारा बखेड़ा पाजेब के कारण होता है। पाजेब मुन्नी की आभूषणप्रियता की भी प्रतीक है। कहानी में पाजेब एक संज्ञा मात्र नहीं रह गई। वह प्रतीक में रूपान्तरित हो गई है। साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त सामान्य शब्द कैसे सामान्य अर्थ से ऊपर उठ कर विशेष अर्थ ग्रहण कर लेते हैं, यह यहाँ 'पाजेब' शब्द के प्रयोग में (शीर्षक के रूप में प्रयुक्त) देखा जा सकता है।

अतः इस कहानी के शीर्षक से भी कहानीकार की सूझबूझ और उसकी उन्नत कहानीकला के दर्शन होते हैं। कहानी का अंत भी रोचक और कलात्मक है।

17.7 प्रश्न/ अभ्यास

1. जैनेन्द्र की कहानी 'पाजेब' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है - इस कथन की तथ्यपरक व्याख्या कीजिए।
2. 'पाजेब' कहानी के शीर्षक, उसके आरंभ, घटनात्मक विकास और अंत पर विचार करते हुए जैनेन्द्र की कहानीकला का विवेचन करें।
3. 'पाजेब' कहानी की भाषा पर विचार करें।
4. 'पाजेब' कहानी के बालक आशुतोष का चरित्र-चित्रण करते हुए उसकी चरित्रगत विशेषताएँ बताइए।
5. हिंदी कहानी के विकास में जैनेन्द्र का क्या योगदान है?

इकाई 18 'रोज़' : अज्ञेय

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 स्त्री जीवन को यांत्रिकता में बदलते परपरागत तथ्य

18.3 स्त्री की सामाजिक स्थिति

18.4 कहानी का शिल्प

18.5 सारांश

18.6 प्रश्न/ अभ्यास

18.0 उद्देश्य

अज्ञेय द्वारा लिखित कहानी 'रोज़' पर लिखा गया पाठ आपके सामने है। यह कहानी सर्वप्रथम 'गेंग्रीन' नाम से छपी थी लेकिन बाद में इसका शीर्षक बदलकर अज्ञेय ने इसे 'रोज़' शीर्षक के रूप में छापा था। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- विवाह के बाद कुछ ही वर्षों में स्त्री के जीवन में आई जड़ता, वितृष्णा की स्थिति को रेखांकित कर सकेंगे,
- विवाहित नारी के अभावों में घुटते हुए पंगु बने व्यक्तित्व की त्रासदी पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- एक ही ढर्रे की जीवन शैली, स्त्री के व्यक्तित्व विकास के प्रति पति की अनास्था, कोमल भावनाओं को किस प्रकार खंडित करके केवल कर्त्तव्यपरायणता में सीमित हो जाती है, को आप समझ सकेंगे,
- सीमित दुनिया में बंद जीवन की छटपटाहट तथा अभाव को दूर करने की इच्छा और बाहरी दुनिया से जुड़ने का उपाय ढूँढ़ती स्त्री की मनस्थिति को समझ सकेंगे,
- अज्ञेय की कल्पनाशीलता और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता तथा शिल्प कौशल से परिचित हो सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

'रोज़' से पूर्व आपने 'ठाकुर का कुआँ' (प्रेमचंद), 'पुरस्कार' (प्रसाद), 'कुत्ते की पूंछ' (यशपाल) 'पाजेब' (जैनेंद्र) कहानियों का अध्ययन कर लिया है। अतः आपके सामने स्पष्ट हो जाएगा कि यह कहानी (रोज़) उपर्युक्त कहानियों से कथा की दृष्टि से नितान्त भिन्न है। इसमें एक नवविवाहिता स्त्री के 'व्यक्ति मन' की गहरी उदासी और अकेलेपन की त्रासद अनुभूति का चित्रण है।

अज्ञेय मुख्यतः कवि हैं, पर उन्होंने उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-वृत्तान्त, आलोचना, ललित निबंध भी लिखे हैं। उनका एक नाटक भी छप चुका है, जिसका नाम है 'उत्तर प्रियदर्शी'। उनके उपन्यास तीन हैं, जिनके नाम हैं 'शेखर एक, जीवनी', 'नदी के द्वीप' और 'अपने अपने अज़नबी'। उनके कहानी संग्रहों के शीर्षक इस प्रकार हैं :

कहानी संग्रह

(1) विपथगा, (2) भग्नदूत, (3) छोड़ा हुआ रास्ता (भाग-1), (4) लौटती पगडंडियाँ, (5) ये तेरे प्रतिरूप

अज्ञेय ने कुल मिलाकर लगभग सडसठ (67) कहानियाँ रची हैं। उनकी कहानियों को डॉ. देवराज उपाध्याय ने तीन वर्गों में विभाजित किया है।

1. क्रांतिकारी जीवन से संबंधित
2. प्रेम संबंधी
3. मनोवैज्ञानिक
4. सामाजिक संदर्भ से जुड़ी कहानियाँ
5. सेक्स एवं रोमांस से संबंधित कहानियाँ

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अज्ञेय ने विभिन्न विधाओं में साहित्य-लेखन किया है और प्रत्येक विधा में सफलता प्राप्त की है। हिंदी कहानी में भी उनका योगदान कम नहीं है। वे प्रेमचंद के बाद उभरने वाले उन लेखकों में से हैं, जिन्होंने हिंदी कहानी में नए आयाम उद्घाटित किए और उसे आधुनिकता बोध से सम्पन्न करते हुए उसके मार्ग को प्रशस्त किया। नामवर सिंह की दृष्टि में - "अज्ञेय ने निश्चय ही युद्ध के मोर्चे से लौटकर साहित्यिक सक्रियता का परिचय दिया। 'प्रतीक' के सम्पादन के साथ उन्होंने कविता और उपन्यास की तरह कहानी रचना की दिशा में भी उत्साह से कदम आगे बढ़ाया और वह भी युद्धोत्तरकालीन विविध सामाजिक अनुषंगों का आभास देते हुए।" (समकालीन कहानी - दिशा और दृष्टि : सं. डॉ. धनंजय पृ. 4) उन्होंने भी घटनाओं के कोरे वर्णन के बजाए मानव के अंतर्मन के यथार्थ की परतों को खोलने की कोशिश अपनी अनेक कहानियों में की। यद्यपि उन्होंने व्यक्ति की कुंठाओं, समस्याओं पर अधिक ध्यान केंद्रित किया। मनोविज्ञान संबंधी मान्यताओं, सिद्धांतों का उपयोग अपनी कहानियों के ताने बाने में करते हुए अज्ञेय ने भी हिंदी कहानी को मनोवैज्ञानिक गहराई दी, जिसके कारण अनेक आलोचकों ने उनकी कहानियों को मनोवैज्ञानिक कहानी की श्रेणी में रखा। फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत का इलाचन्द्र जोशी की तरह उन पर भी गहरा प्रभाव है। पश्चिम के अस्तित्ववाद का प्रभाव भी उनकी रचनाओं पर देखा ज़ा सकता है। उनका उपन्यास 'अपने अपने अज़नबी' इसका स्पष्ट उदाहरण है।

राजेन्द्र यादव की दृष्टि में "जिन दिनों जैनेन्द्र और अज्ञेय कहानी में आ रहे थे, उन दिनों प्रेमचंद का झुकाव मार्क्सवाद की ओर बढ़ रहा था। फिल्म 'मजदूर' की असफलता के बाद वह फिर से 'जागरण' और 'हंस' में लग गए थे। उनकी सामाजिक व्यापक विविधता के बीच जैनेन्द्र की विशिष्ट व्यक्तिवादी दृष्टि अधिक नई, अपनी और गहरी लगती थी इनकी कहानियाँ भीतर से बाहर की ओर नहीं, बाहर से भीतर घटित होने लगी थी..... एक बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि व्यक्ति विशिष्ट होने लगा और विशिष्ट व्यक्तिगत....."

'रोज़' शीर्षक कहानी अज्ञेय के कहानी संकलन 'विपथगा' के पहले संस्करण में है। पर 'विपथगा' के पाँचवें संस्करण में, जो सन् 1990 ई. में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ, यही कहानी 'गैंग्रीन' शीर्षक से प्रकाशित है। संभव है कि लेखक ने इसके पहले शीर्षक में इस कारण परिवर्तन कर दिया हो कि इसका एक पात्र डाक्टर है, जो गैंग्रीन नामक बीमारी का उपचार करता है। मेरे विचार में इसका शीर्षक 'रोज़' अधिक उपयुक्त है, जो कि कहानी की मुख्य संवेदना का सूचक भी है। हिंदी जगत में भी इसे 'रोज़' शीर्षक से अधिक जाना गया।

इस कहानी का उद्देश्य एक युवती मालती के यान्त्रिक वैवाहिक जीवन के माध्यम से नारी के यन्त्रवत् जीवन और उसके सीमित घरेलू परिवेश में बीतते उबाऊ जीवन का

चित्रण है। यह एक विवाहित नारी के अभावों में घुटते हुए पंगु बने व्यक्तित्व की त्रासदी का चित्रण है। रोज़ एक ही ढर्रे पर चलती मालती की उबाहट भरी दिनचर्या कहानी के शीर्षक 'रोज़' से भी ध्वनित होती है। कहानी के उद्देश्य की ओर इसका शीर्षक भी संकेत करता है। इसलिए इस कहानी का 'रोज़' शीर्षक सर्वथा उपयुक्त शीर्षक है।

कहानी के शीर्षक से कहानी की मुख्य संवेदना की ओर संकेत के साथ लेखक की सूझबूझ और उसके लेखकीय कौशल का भी पता चलता है।

प्रस्तुत कहानी के घटनाक्रम को देखते हुए अध्ययन की सुविधा के लिए इसके विभिन्न मोड़ों को पहचाना जा सकता है। इन मोड़ों की दृष्टि से कहानी के घटनाक्रम के तीन भाग किए जा सकते हैं, जिनमें विभिन्न विषयों, स्थितियों, मनःस्थितियों का चित्रण है। वह एक पूर्ण रूप में लिखी गई कहानी है। पर घटनाक्रम के विभिन्न मोड़ परिलक्षित होते हैं।

18.2 स्त्री जीवन को यांत्रिकता में बदलते पारंपारिक तथ्य

कहानी के इस भाग में ही मालती के यन्त्रवत् जीवन की झलक मिल जाती है, जब वह अतिथि का स्वागत केवल औपचारिक ढंग से करती है। अतिथि उसके रिश्ते का भाई है, जिसके साथ वह बचपन में खूब खेलती थी। पर वर्षों बाद आए भाई का स्वागत उत्साहपूर्वक नहीं कर पाती, बल्कि जीवन की अन्य औपचारिकताओं की तरह एक और औपचारिकता निभा देती है। उसके व्यवहार में यंत्रवत् कर्त्तव्यपालन का भाव झलकता है। कर्त्तव्यपालन में वह कोई कमी छोड़ती प्रतीत नहीं होती। वह अतिथि के लिए हाथ का पंखा भी झलती है, पर उसकी कुशल क्षेम पूछने का उत्साह तक नहीं दिखाती। उसके जीवन में उत्साह नहीं है, तो व्यवहार में भी उत्साहहीनता और मात्र औपचारिकता है। बचपन की बातूनी लड़की शादी के दो वर्षों बाद ही बुझ कर मौन हो गई। इस मौन को अतिथि भी परिलक्षित करता है। इसीलिए उसे कहानी के शुरू में ही लगता है कि उस घर में कोई काली छाया मँडरा रही है। यह काली छाया कहानी में कई स्थानों पर मँडराती देखी जा सकती है।

हम देखते हैं कि मालती अतिथि से कुछ नहीं पूछती, बल्कि उसके प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर ही देती है। उसमें अतिथि की कुशलता या उसके वहाँ आने का उद्देश्य या अन्य समाचारों के बारे में जानने की कोई उत्सुकता नहीं दीखती। यदि पहले कोई उत्सुकता, उत्साह, जिज्ञासा या किसी बात के लिए उत्कंठा थी भी तो वह दो वर्षों के वैवाहिक जीवन के बाद शेष नहीं रही। विगत दो वर्षों में उसका व्यक्तित्व बुझ सा गया है, जिसे उसका रिश्ते का भाई भाँप लेता है। अतः मालती का मौन उसके दम्भ का या अवहेलना का सूचक नहीं, उसके वैवाहिक जीवन की उत्साहहीनता, नीरसता और यान्त्रिकता का ही सूचक है।

इस स्थल के संवादों को देखें तो मालती ने अतिथि द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' या 'ना' में या एक दो शब्दों में दिए हैं, जिन से यही लगता है कि उसके पास कहने को कुछ नहीं है और उसका जीवन खाली है।

मालती और अतिथि के बीच के मौन को मालती का बच्चा अचानक उस समय तोड़ देता है, जब वह सोते-सोते रो पड़ता है। मालती अपने दूसरे कर्त्तव्यपालन के लिए बच्चे को सँभालने दूसरे कमरे में चली जाती है, मानो वह कर्त्तव्य-पालन के लिए ही बनी है। बच्चे के बहाने दोनों का मौन टूटता है और जो अत्यन्त संक्षिप्त बातचीत होती है, वह केवल औपचारिक है और बच्चे को लेकर है। इस बातचीत में अतिथि उपस्थित

होकर भी अनुपस्थित है, क्योंकि उसके बारे में मालती कुछ नहीं पूछती। उसे लक्षित करके जब अतिथि पूछता है "जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई।"

मालती इसका उत्तर एक 'हूँ' से देती है, जो प्रश्नवाचक भी है और विस्मयबोधक भी है। वह वास्तविकता की स्वीकृति भी समझी जा सकती है, पर उसे अशिष्टता भी समझा जा सकता है, पर उसकी प्रश्नवाचक 'हूँ' के पीछे सुन कर भी न सुनने का भाव निहित था। सुनकर भी न सुनना एक प्रकार की जड़ता ही है। मालती के जीवन की इस जड़ता इस व्यवहार से ध्वनित होती है।

बाह्य स्थिति और मनःस्थिति के एक साथ अंङ्कन में लेखक को सफलता मिली है।

कहानी के दूसरे भाग में मालती की मनःस्थितियों का कुशल अंकन हुआ है। अतिथि के सामने बैठी हुई मालती दूर कहीं अतीत में देख रही थी। वह वर्तमान में साँस ले रही थी, पर अतीत में जी रही थी, क्योंकि वह उसके लिए अधिक जीवन्त और सरस था। वह अपने सुखद बचपन के सलोने क्षणों में खो गई थी। वह अतिथि को जड़वत् देखती हुई अपने सुखद अतीत को लौटाने की मानो असफल कोशिश कर रही थी। इस मानसिक जड़ता को कहानीकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है *"मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमंडल को पुनः जगा कर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार तन्तु को पुनरूज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो।"*

यह मानसिक जड़ता ही उसके शरीर की जड़ता तथा उसकी अनन्त थकान में रूपान्तरित हो गई। पति द्वारा दरवाज़ा खटखटाने पर वह हिली नहीं। दुबारा किवाड़ खटखटाए जाने पर उसकी संज्ञा लौटी और वह दरवाज़ा खोलने गई।

"मैंने मालती की ओर देखा, पर वह हिली नहीं, जब किवाड दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड खोलने गयी।"

कहानी के इस मोड़ पर कुछ महत्वपूर्ण घटित नहीं होता, पर मालती की मानसिक ऊहापोह, उसके अन्तर्द्वन्द्व की संक्षिप्त झलक अवश्य मिलती है, जिसके संदर्भ में अतिथि के साथ उसके औपचारिक व्यवहार की समीक्षा की जा सकती है। पति द्वारा द्वार खटखटाए जाने पर मालती का न हिलना आवाज़ के न सुन पाने के कारण भी हो सकता है, पर यह शारीरिक जड़ता उसकी थकान का परिणाम है और "शारीरिक जड़ता मन की जड़ता का दूसरा रूप है।" मामूली निरर्थक सी घटना किसी गहरे अर्थ का बोध भी करा सकती है, यह कहानी के इस मोड़ पर स्पष्ट हो जाता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि लेखक बाह्य स्थिति और मानसिक दशा दोनों का संश्लिष्ट वर्णन करने की कला में पारंगत है।

अतिथि का मालती के पति महेश्वर से परिचय होता है। दोनों की बातचीत का क्रम चलता है, जो यहाँ विस्तृत संवाद के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया, क्योंकि उससे कहानी के कलेवर का विस्तार होता और कथा संगठन में एक कसावट न रहती। पर कहानीकार ने महेश्वर के नित्य कर्म का जो संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत किया है, उससे पता चलता है कि वह रोज़ सवेरे डिस्पेन्सरी चला जाता है, दोपहर को भोजन करने और कुछ आराम करने के लिए आता है, शाम को फिर डिस्पेन्सरी जाकर रोगियों को देखता है। उसका जीवन भी रोज़ एक ही ढर्रे पर चलता है। एक यांत्रिक जीवन की यन्त्रणा पहाड़ के एक छोटे स्थान पर मालती का पति भी भोग रहा है। यांत्रिक जीवन के संत्रास के शिकार बड़े शहरों के ही लोग नहीं हैं, पहाड़ के एकान्त में उसके शिकार मालती और महेश्वर भी हैं।

मालती के नीरस और एक ढर्रे पर चलते जीवन के चित्र कहानी के इस भाग में भी हैं। अतिथि ने मालती से खाने के बारे में पूछा "तुम नहीं खाओगी? या खा चुकीं?" तो उत्तर उसके पति ने यों दिया "वह पीछे खाया करती है।" कहानीकार ने इस पर

टिप्पणी जड़ी *"पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी।"* यह एक दिन की बात नहीं है। रोज़ ऐसा ही होता है। मालती और उसके पति महेश्वर के जीवन में रोज़ सब कुछ एक जैसा ही होता है। बच्चे के रोने के बारे में पूछने पर मालती ने स्पष्टीकरण दिया "हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है," अर्थात् बच्चे का रोना भी रोज़ एक जैसा ही है। बच्चे को चुप कराने पर भी जब वह रोता ही रहा, तो "मालती ने उसे भूमि पर बिठा दिया और बोली "अच्छा ले, रो ले।" बच्चा चिड़चिड़ा हो गया है, इसलिए रोज़ रोता है, पर यह चिड़चिड़ापन मालती के स्वभाव का भी अंग बन गया है, जो उसके व्यवहार और शब्दों में भी झाँक-झाँक जाता है। यह चिड़चिड़ापन मालती के उदास, यान्त्रिक, ऊब भरे जीवन का परिणाम है, जिसे कहानीकार ने बड़ी कुशलता से अंकित कर दिया है।

तीन बजने पर मालती ने थकी हुई साँस ले कर कहा "तीन बज गए।" चार बजने, पाँच बजने और क्रमशः रात के ग्यारह बजने पर भी वह इसी प्रकार गहरी थकी साँस लेकर इतने उतने बजने की बात अपने आप से कहती है। लगता है कि वह प्रत्येक घंटा गिनती रहती है। समय उसके लिए पहाड़ जैसा है। एक घंटा बीतने पर उसे लगता है कि चलो एक मनहूस घंटा तो बीता। घर में नौकर नहीं है तो बर्तन माँजने का काम रोज़ मालती को ही करना पड़ता है। पर बर्तन माँजने के लिए पानी चाहिए जो रोज़ ही वक्त पर नहीं आता है। मालती के इस कथन में कितनी विवशता है *"रोज़ ही होता है, कभी वक्त पर तो आता नहीं। आज शाम को सात बजे आएगा, तब बर्तन मँजेंगे।"* पानी की अनियमित आपूर्ति का क्रम भी रोज़ जैसा ही है।

उस घर में बच्चे का रोना, मालती द्वारा बर्तन माँजना, उसके द्वारा प्रत्येक घंटे की गिनती करना, महेश्वर का सुबह शाम दो वक्त डिस्पेन्सरी जाना, पानी का रोज़ अनियमित रूप से आना सब कुछ एक जैसा है।

अतिथि तो मालती के घर में कई वर्षों बाद कुछ समय के लिए आया है पर अतिथि को लगता है कि उस घर पर कोई काली छाया मँडरा रही है। उसे अनुभव होता है कि *"इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रह कर मानो मुझे भी वश में कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस, निर्जीव सा हो रहा हूँ, जैसे, हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती।"* लगता है कि अतिथि भी उस काली छाया का शिकार हो गया है, जो उस घर पर मँडरा रही है।

कहानी के इस स्थल पर मालती के अंतर्द्वन्द्व के साथ अतिथि का अंतर्द्वन्द्व भी चित्रित हुआ है। उस घर की जड़ता, नीरसता, उबाहट ने जैसे अनाम अतिथि को भी आच्छादित कर लिया है।

कहानी के उक्त भाग में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटती, पर महेश्वर का दोपहर को घर लौटना, द्वार खटखटाना, मालती का अपनी जगह से न हिलना, अतिथि से महेश्वर का परिचय, औपचारिक संक्षिप्त बातचीत आदि छोटे छोटे प्रसंग अवश्य चित्रित हुए हैं। इन प्रसंगों के चित्रण द्वारा पात्रों की बदलती मनःस्थितियों को पकड़ने की कहानीकार ने अधिक कोशिश की है। कहा जा सकता है कि लेखक का ध्यान बाह्य दृश्य की तुलना में अंतर्दृश्य पर अधिक है।

18.3 स्त्री की सामाजिक स्थिति

कहानी के तीसरे भाग में महेश्वर के डिस्पेन्सरी से घर लौटने के बाद की स्थितियों का अंकन है। महेश्वर सूचना देता है कि हस्पताल में भी रोज़ एक सा ढर्रा है। हर दूसरे चौथे दिन वहाँ गैंग्रीन का रोगी आ जाता है, जिस की टांग काटने की नौबत भी आ जाती है। मालती पति पर व्यंग्य करती है *"सरकारी हस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज़ ही ऐसी बाते सुनती हूँ। अब कोई मर मुर जाए तो ख्याल ही नहीं होता।"*

मालती अपने जीवन की नीरसता को प्रायः चुपचाप सहती रहती है और पति से उसकी बातचीत भी कम होती है, पर सरकारी हस्पताल की दुर्दशा और रोगियों के मरने के प्रसंग को लेकर पति पर किए गए उसके व्यंग्य से **उसकी संवेदनशीलता एवं जिजीविषा का पता चलता है।**

काँटा लगने पर गैंग्रीन होना, और उसके होने पर टाँग का आपरेशन, यहाँ तक कि टाँग का कटना, हस्पताल में रोगियों का मरना सब कुछ नित्य कर्म की तरह चलता रहता है, जिसे झेलना महेश्वर की नियति है। पर इस कहानी में महेश्वर की जड़ता, उबाहट, एकरसता का अंकन गौण रूप में ही है। मुख्य रूप से मालती के नीरस, यांत्रिक जीवन की त्रासदी को ही कहानीकार ने उभारा है।

कहानीकार की दृष्टि का केंद्र मालती और उसके जीवन की जड़ता ही है, यद्यपि महेश्वर के नित्य कर्म और यांत्रिक जीवन की झलक भी इसमें मिल जाती है। महेश्वर और अतिथि बाहर पलंग पर बैठ कर गपशप करते रहे और मालती घर के अंदर बर्तन माँजती रही, क्योंकि नल में पानी आ गया था। उसकी नियति घर के भीतर खटना ही थी, बाहर की खुली हवा का आनन्द लेना नहीं। आगे कहानीकार ने एक बड़े मामूली पर रोचक प्रसंग की उद्‌भावना की है। बर्तन धोने के बाद मालती को पति का आदेश मिला "थोड़े से आम लाया हूँ, वे भी धो लेना।" आम अखबार के काग़ज़ में लिपटे थे। मालती आमों को अलग कर के अखबार के टुकड़े को खड़े-खड़े पढ़ने लगी। **अखबार के टुकड़े को पढ़ने में उसकी तल्लीनता इस तथ्य की सूचक है कि वह बाहर की दुनिया के समाचार जानना चाहती है, पर वह अपनी सीमित दुनिया में बंद है।** उसके जीवन का एक और अभाव उजागर होता है और वह है अखबार का अभाव। अखबार उसे बाहर की दुनिया से जोड़ने का काम कर सकता था, पर वह उससे भी वंचित थी। लेखक याद कर रहा था मालती बचपन में पढ़ने से बहुत कटती थी। पिता ने उसकी इस आदत को बदलने के लिए एक दिन पुस्तक लाकर दी और कहा कि इसके बीस पेज रोज़ पढ़ा करो, हफ्ते-भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज, फाड़ कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भांति फर्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, *"किताब समाप्त कर ली?"* तो उत्तर दिया, *"हाँ, कर ली,"* पिता ने कहा, *"लाओ मैं प्रश्न पूछूँगा,"* तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, *"लाओ, मैं प्रश्न पूछूंगा,"* तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली, *"किताब मैंने फाड़ कर फेंक दी है, मैं नहीं पढ़ूँगी।"* तभी तो लेखक ने यहाँ सार्थक टिप्पणी की है *"वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गई है, कितनी शांत और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है।"* तभी तो अखबार का टुकड़ा सामने आने पर वह उसे पढ़ने लगती है। वह उसे पढ़ने का मोह संवरण न कर सकी। यह प्रसंग बड़ा मामूली है, पर बड़ा अर्थगर्भित है। इससे पता चलता है कि जीवन की जड़ता के बीच भी मालती में कुछ जागरूकता, कुछ जिज्ञासा, कुछ जीवनेच्छा बची है। इस मामूली प्रसंग से कहानीकार की उर्वरां कल्पनाशक्ति का भी प्रमाण मिलता है। फिर अखबार के टुकड़े को ललक के साथ पढ़ने से उसकी मनःस्थिति का भी अनुमान किया जा सकता है। **मालती के जीवन की जड़ता के बीच चेतना और जीवनेच्छा के लक्षण कहानी के बीच यदाकदा प्रकट होते हैं,** जिनसे लगता है कि वह इस घुटन भरी जिंदगी से निकलना चाहती है। पर कहानी का मुख्य स्वर चुनौती के बजाए मालती द्वारा जीवन से किए गए समझौते का है। वह सब कुछ सह लेती है। पति के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा और बच्चे के प्रति वात्सल्य उसे समझौते के लिए बाध्य करता है। उसके जीवन की गाड़ी रेलगाड़ी की तरह लोहे की पटरियों पर कभी तेज़ और कभी मन्द गति से चलती जाती है।

उक्त प्रसंग से यही लगता है कि 'रोज़' नारी की चुनौती के बजाए उसके समझौते और सहनशीलता की कहानी है। वह सब कुछ सह कर गृहस्थी की गाड़ी धकेलती रहती है।

"जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्त्तव्य भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी, वह मालती की ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, मालती उसे भी गोद में लेकर चली गयी, रसोई में बैठ कर एक हाथ से उसे थपकाने और दूसरे से कई छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी....."

महेश्वर और अतिथि द्वारा बाहर पलंग पर बैठे चाँदनी का आनन्द लेना और रसोई के भीतर मालती द्वारा बर्तन मलना, सोते हुए बच्चे का पलंग से नीचे गिर जाना ऐसे प्रसंग हैं, जो नारी के जीवन की विषम स्थिति के सूचक हैं। उसे बर्तन साफ करने के साथ बच्चे को भी सँभालना है। बच्चे को सुलाने के बाद वह बर्तन मलने बैठी तो बच्चा पलंग से नीचे गिर पड़ा। इस पर मालती की प्रतिक्रिया है *"इस के चोटें लगती ही रहती हैं। रोज़ ही गिर पड़ता है।"* मानो पलंग से बच्चे का गिरना कोई खास बात नहीं है, क्योंकि ऐसा रोज़ होता है। उसकी चोटें भी चिन्ता का विषय नहीं है, क्योंकि चोटें रोज़ लगती हैं। उसके मन की चोटें भी उसके लिए चिन्ता का विषय नहीं रहीं, क्योंकि वे भी रोज़ लगती हैं। 'रोज़' की ध्वनि लगातार गूँजती रहती है। इसलिए कहानी का शीर्षक 'रोज़' बड़ा सार्थक है। इस स्थल पर कहानीकार की टिप्पणी भी प्रासंगिक है "ग्यारह बजने वाले हैं।" धीरे से सिर हिला कर जता रही थी कि मालती का जीवन अपना रोज़ की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक संसार के सौन्दर्य के लिए रुकने को तैयार नहीं था।

मालती के जीवन पर लेखक की यह टिप्पणी बड़ी सार्थक है। यह महेश्वर के जीवन पर भी, उस पहाड़ी गाँव के निवासियों के जीवन पर भी चरितार्थ होती है। पर कहानी की मुख्य संवेदना मालती के एकरस जीवन, उसकी सहनशीलता और समय के साथ समझौते से सम्बन्धित है। यह नारी जीवन की एक त्रासदी भी है।

कहानी का अंत ग्यारह बजने की घंटा ध्वनि के साथ होता है, जबकि मालती मर्मभेदी आवाज़ में कहती है "ग्यारह बज गए।" यहाँ मालती के सामान्य शब्दों में एक व्यंग्यात्मक करुणा है, जो इन्हें जीवन्त बना देती है।

18.4 कहानी का शिल्प

अज्ञेय ने हिंदी कहानी को आधुनिकता बोध से संपन्न करने की दिशा में महत्वपूर्ण सृजन किया है। वे मनोवैज्ञानिक कथाओं के सफल लेखक हैं। वे घटनाओं के कोरे वर्णन के बजाए मानव के अंतर्मन की परतों को उघाड़ने में अधिक रूचि लेते हैं। इसलिए उनकी कहानियों में भावात्मक गहराई और विशेष प्रकार की वैचारिकता मिलती है। मनोविज्ञान के सिद्धांतों की छाया उनकी कहानियों के ताने बाने में प्रायः दिखाई देती है। इस तरह से फ्रायड के मनोविश्लेषण से प्रभावित दीखते हैं।

उनकी कहानियाँ प्रायः चरित्र प्रधान हैं। 'रोज़' भी एक चरित्र प्रधान कहानी है, जिसमें एक विवाहिता युवती मालती के यांत्रिक जीवन को आधार बनाया गया है। चरित्र चित्रण के लिए कहानीकार कई विधियाँ अपनाता है, जिनमें अंतर्द्वंद्व की प्रस्तुति, सार्थक संक्षिप्त संवाद, जीवन्त भाषा आदि हैं। घटनाओं के विस्तृत विवरण के बजाए अज्ञेय उनसे उत्पन्न मानसिक घात प्रतिघात, प्रतिक्रियाओं, चित्त के परिवर्तनों के अंकन में अधिक रूचि लेते हैं अर्थात् बाह्य दृश्य के बजाए अंतर्दृश्यों पर उनकी दृष्टि अधिक केंद्रित रहती है।

अज्ञेय भाषा के कुशल प्रयोक्ता हैं। वे तत्सम शब्दों के कुशल प्रयोग में बड़े सफल हैं, यद्यपि तद्भव शब्दों और बोलचाल की शब्दावली से भी उन्हें कोई परहेज़ नहीं है। उनके गल्पसाहित्य की भाषा कविता की तुलना में कम संस्कृतनिष्ठ है। पर भाषा के प्रति अभिजात रूचि सर्वत्र उनकी रचनाओं में देखी जा सकती है। हिंदी कहानी को नए क्षितिजों से परिचित कराने और उसके कथ्य में गहराई लाने की दिशा में अज्ञेय का योगदान विशिष्ट है।

आगे कहानीकार ने एक साधारण पर रोचक प्रसंग की उद्‌भावना की है। महेश्वर ने मालती से आम धोकर लाने को कहा। आम अखबार के एक टुकड़े में लिपटे थे। अखबार का टुकड़ा सामने आते ही मालती उसे पढ़ने में ऐसे तल्लीन हो गई, मानो उसे अखबार पहली बार मिला हो। इससे पता चलता है कि वह अपनी सीमित दुनिया से बाहर निकल कर दुनिया के समाचार जानने को उत्सुक है। वह अखबार के लिए भी तरस गई थी। उसके जीवन के अनेक अभावों में अखबार का अभाव भी उसे एक तीखी चुभन दे गया। यह प्रसंग बड़ा साधारण है पर बड़ा अर्थपूर्ण है, क्योंकि यह जीवन की जड़ता के बीच उसकी जिज्ञासा और जीवनेच्छा का प्रतीक बन जाता है। इससे लेखक की कल्पनाशीलता का भी पता चलता है।

18.5 सारांश

कहानी के पहले भाग में मालती द्वारा अपने भाई के औपचारिक स्वागत का उल्लेख है, जिसमें कोई उत्साह नहीं है, बल्कि कर्त्तव्यपालन की औपचारिकता अधिक है। वह अतिथि की कुशलक्षेम तक नहीं पूछती, पर उसे पंखा अवश्य झलती है। उसके प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर देती है। बचपन की बातूनी चंचल लड़की शादी के दो वर्षों बाद इतनी बदल जाती है कि वह चुप रहने लगती है। उसका व्यक्तित्व बुझ सा गया है। अतिथि को उस घर के ऊपर कोई काली छाया मँडराती हुई लगती है।

मालती और अतिथि के बीच के मौन को मालती का बच्चा सोते-सोते रोने से तोड़ता है। वह बच्चे को सँभालने के कर्त्तव्य का पालन करने के लिए दूसरे कमरे में चली जाती है। अतिथि एक तीखा प्रश्न पूछता है तो उसका उत्तर वह एक प्रश्नवाचक 'हूँ' से देती है। मानो उसके पास कहने के लिए कुछ नहीं है। यह आचरण उसकी उदासी, उबाहट और यांत्रिक जीवन की यंत्रणा को प्रकट करता है। दो वर्षों के वैवाहिक जीवन के बाद नारी कितनी बदल जाती है, यह कहानी के इस भाग में प्रकट हो जाता है। कहानी के इस भाग में मालती कर्त्तव्य पालन की औपचारिकता पूरी करती प्रतीत होती है, पर उस कर्त्तव्यपालन में कोई उत्साह नहीं है, जिससे उसके नीरस, उदास, यांत्रिक जीवन की ओर संकेत होता है। अतिथि से हुए उसके संवादों में भी एक उत्साहहीनता और ठंडापन है। उसका व्यवहार उसकी द्वन्द्वग्रस्त मनोदशा का सूचक है। इस प्रकार कहानीकार बाह्य स्थिति और मनःस्थिति के संश्लिष्ट अंकन में सफल हुआ है।

'रोज़' कहानी के दूसरे भाग में मालती की अंतर्द्वन्द्वग्रस्त मानसिक स्थिति, बीते बचपन की स्मृतियों में खोने से एक असंज्ञा की स्थिति शारीरिक जड़ता और थकान का कुशल अंकन हुआ है। साथ ही उसके पति के यांत्रिक जीवन, पानी, सब्जी, नौकर आदि के अभावों का भी उल्लेख हुआ है। मालती पति के खाने के बाद दोपहर को तीन बजे और रात को दस बजे ही भोजन करेगी और यह रोज़ का क्रम है, इसकी जानकारी भी पाठकों को यहाँ मिलती है।

बच्चे का रोना, मालती का देर से भोजन करना, पानी का नियमित रूप से वक्त पर न आना, पति का सवेरे डिस्पेन्सरी जाकर दोपहर को लौटना और शाम को फिर डिस्पेन्सरी में रोगियों को देखना, यह सब कुछ मालती के जीवन में रोज़ एक जैसा ही है। घंटा खड़कने पर समय की गिनती करना मालती के नीरस जीवन की सूचना देता है अथवा यह बताता है कि समय काटना उसके लिए कठिन हो रहा है।

इस भाग में मालती, महेश्वर, अतिथि के बहुत कम क्रियाकलापों और अत्यंत संक्षिप्त संवादों के अंकन से पात्रों की बदलती मानसिक स्थितियों को प्रस्तुत किया गया है, जिससे यही लगता है कि लेखक का अधिक ध्यान बाह्य दृश्य के बजाए अंतर्दृश्य पर है।

कहानी के तीसरे भाग में महेश्वर की यांत्रिक दिनचर्या, हस्पताल के एक जैसे ढर्रे, रोगियों की टांग कटने या उसके मरने के नित्य चिकित्सा कर्म का पता चलता है, पर अज्ञेय का ध्यान मालती के जीवन संघर्ष को चित्रित करने पर केंद्रित है। इसलिए उसकी गतिविधियों तथा उसकी मनःस्थितियों के अंकन पर लेखक ने अधिक ध्यान दिया है।

महेश्वर और अतिथि बाहर पलंग पर बैठ कर गपशप करते रहे और चाँदनी रात का आनन्द लेते रहे, पर मालती घर के अंदर बर्तन माँजती रही, क्यों यही उसकी नियति थी।

बच्चे का बार-बार पलंग से नीचे गिर पड़ना और उस पर मालती की चिड़चिड़ी प्रतिक्रिया मानो पूछती है कि वह बच्चे को सँभाले या बर्तन मले? ये काम नारी को ही क्यों करना पड़ता है? क्या यही उसकी नियति है?

इस अचानक प्रकट होने वाली जीवनेच्छा के बावजूद कहानी का मुख्य स्वर चुनौती के बजाए समझौते का और मालती की सहनशीलता का है। इसमें नारी जीवन की विषम स्थितियों का कुशल अंकन हुआ है। बच्चे का सोते सोते पलंग से गिरना, उसके लिए सामान्य बात है, क्योंकि रोज़ ऐसा होता है। बच्चे की चोटें भी मामूली बात है, क्योंकि उसे चोटें रोज़ लगती रहती हैं। मालती के मन पर लगने वाली चोटें भी चिन्ता का विषय नहीं है, क्यों कि वह रोज़ इन चोटों को सहती रहती है। 'रोज़' की ध्वनि कहानी में निरन्तर गूँजती रहती है।

कहानी का अंत 'ग्यारह' बजने की घंटा-ध्वनि से होता है और तब मालती करुण स्वर में कहती है "ग्यारह बज गए।" उसका घंटे गिनना उसके जीवन की निराशा और करुण स्थिति को प्रकट करता है। 'रोज़' अज्ञेय की चर्चित कहानी है, जो 'विपथगा' शीर्षक कहानी संकलन के पहले संस्करण में छपी थी, बाद में 'गैग्रीन' शीर्षक से भी 'विपथगा' के पाँचवें संस्करण में प्रकाशित हुई। इस कहानी का उद्देश्य एक विवाहित युवती के जीवन चित्रण के माध्यम से नारी के सीमित संसार में घुटन और उसकी उदासी का चित्रण है। कहानी का शीर्षक भी मालती की रोज एक ढर्रे पर चलती दिनचर्या और ऊबी हुई जिन्दगी की ओर संकेत करता है।

वह अतिथि के प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर मात्र देती है, स्वयं उससे कोई प्रश्न नहीं करती। उसके पास मानो कहने के लिए कुछ नहीं है। उसके मौन को उसका बच्चा सोते-सोते रोकर तोड़ता है। वह उसे सँभालने के कर्त्तव्यपालन में लग जाती है, मानो वह कर्त्तव्यपालन के लिए ही बनी है। पर उस कर्त्तव्यपालन में कोई उत्साह नहीं है। इससे अतिथि को लगता है कि उसके आने से मालती को कोई खुशी नहीं हुई। इस आशय के प्रश्न का उत्तर वह एक प्रश्नवाचक 'हूँ' में देती है। **उसका आचरण उसकी द्वंद्वग्रस्त मनोदशा की गवाही देता है।**

कहानी के दूसरे भाग में मालती की मनःस्थितियों का कुशल अंकन है। वह अतिथि के सामने बैठी दूर अतीत की स्मृतियों में मग्न है। इस तल्लीनता के कारण वह पति द्वारा दरवाजा खटखटाने पर हिल नहीं पाती। उसका अन्तर्द्वंद्व और मानसिक उथल-पुथल उसके व्यवहार से व्यक्त हो जाती है। कहानीकार घटनाओं के विस्तृत वर्णन पर कम ध्यान देता है, घटनाओं की अभिप्रेरणाओं और पात्रों की मानसिकता को उघाड़ने के कौशल का परिचय अधिक देता है।

आगे महेश्वर की यांत्रिक दिनचर्या का संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करके उसके जीवन को भी एक ढर्रे पर चलता दिखाया गया है। पहाड़ी स्थानों के अभावों और सीमित वातावरण की यन्त्रणाओं को महेश्वर के माध्यम से प्रस्तुत किया है। पर महेश्वर की जीवन स्थितियों का अंकन करना लेखक का उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। उनकी चर्चा प्रासंगिक रूप से आई है। कहानीकार का मुख्य उद्देश्य मालती की उदास जिंदगी को जीवन्त रूप में प्रस्तुत करना है, जिसमें उसे सफलता मिली है।

महेश्वर और अतिथि के संक्षिप्त संवाद से सूचना मिलती है कि मालती पति के भोजन करने के बाद दोपहर तीन बजे और रात को दस बजे भोजन करती है। यह क्रम भी रोज़ का है। बच्चे का बार-बार रोना, मालती का उसे डाँटना भी रोज़ का क्रम है। **घंटे की गिनती करना भी उसकी भारी ऊब और जड़ता का सूचक है।** समय उसके लिए पहाड़ जैसा भारी हो गया है।

घर में नौकर न होने के कारण मालती को ही बर्तन माँजने का उबाऊ काम करना पड़ता है पर पानी की अनियमित आपूर्ति के कारण उसमें भी बाधा आती है और वह पानी की बाट देखती रहती है। उसकी करुण स्थिति से अतिथि भी प्रभावित होता है और उसे लगता है कि वह भी उस घर के ऊपर मँडराती काली छाया का शिकार हो गया है।

कहानी के अंतिम भाग में महेश्वर के डिस्पेंसरी से घर लौटने के बाद की स्थितियों की चर्चा है। महेश्वर हस्पताल में आने वाले गैंग्रीन के रोगियों का उल्लेख करता है, जिनकी टांग काटनी पड़ती है। मालती डाक्टर महेश्वर की लापरवाही और हस्पताल की दुर्दशा पर व्यंग्य करती है, जो उसकी संवेदनशीलता का परिचायक है।

कहानी एक रोचक मोड़ पर वहाँ पहुँचती है, जहाँ महेश्वर अपनी पत्नी को आम धोकर लाने का आदेश देता है। आम एक अखबार के टुकड़े में लिपटे हैं। जब वह अखबार का टुकड़ा देखती है, तो उसे पढ़ने में तल्लीन हो जाती है। उसके घर में अखबार का भी अभाव है। वह अखबार के लिए तरसती है। इसलिए अखबार का टुकड़ा हाथ में आने पर वह उसे पढ़ने में तल्लीन हो जाती है। यह इस बात का सूचक है कि अपनी सीमित दुनिया से बाहर निकल कर वह उसके आस-पास की व्यापक दुनिया से जुड़ना चहती है। जीवन की जड़ता के बीच भी उसमें कुछ जिज्ञासा बची है, जो उसकी जिजीविषा की सूचक है।

मालती की जिजीविषा के लक्षण कहानी में यदा कदा प्रकट होते हैं, पर कहानी का मुख्य स्वर चुनौती का नहीं है, बल्कि समझौते और परिस्थितियों के प्रति सहनशीलता का है। इसके मूल में उसकी पति के प्रति निष्ठा और कर्त्तव्य परायणता को अभिव्यक्त करती है। वह भी परंपरागत सोच की शिकार है, जो इसमें विश्वास करती है कि यही उसके जीवन का सच है इससे इतर वह सोच भी नहीं सकती। जिस प्रकार से समाज के सरोकारों से वह कटी हुई है, उसे रोज का अखबार तक हासिल नहीं है जिससे अपने उबाऊ जीवन से दो क्षण निकालकर बाहर की दुनिया में क्या कुछ घटित हो रहा है, उससे जूड़ने का, जानने का मौका मिल सके। ऐसी स्थिति में **एक आम महिला से अपने अस्तित्व के प्रति चिंतित होकर सोचने, उसके लिए संघर्ष करने अथवा उबाउ जीवन से उबरने हेतु जीवन में कुछ परिवर्तन लाने की उम्मीद ही नहीं बचती।**

कहानी के अंतिम भाग में बच्चे का पलंग से गिरने का उल्लेख है, जिसके प्रति मालती अधिक चिंतित नहीं है, क्योंकि वह रोज़ गिर पड़ता है। उसकी चोटें चिंता का विषय नहीं है, क्योंकि वे रोज़ लगती हैं। इस प्रकार 'रोज़' की ध्वनि कहानी में निरन्तर गूँजती रहती है। इसलिए कहानी का शीर्षक 'रोज़' पूर्णतः सार्थक है।

18.6 प्रश्न/ अभ्यास

1. अज्ञेय की कहानी 'रोज़' का मुख्य उद्देश्य क्या है ? अपने उद्देश्य में लेखक को कहाँ तक सफलता मिली है ?

2. 'रोज़' कहानी में मालती के वैवाहिक जीवन का चित्रण क्या मध्यवर्गीय स्त्री के जीवन का यथार्थ है अथवा कहानीकार की कल्पना?

3. 'रोज़' के आधार पर मालती का चरित्र चित्रण कीजिए।
4. 'रोज़' कहानी के शीर्षक पर विचार करते हुए उसकी सार्थकता पर टिप्पणी करें।
5. 'आत्मकथा अथवा संस्मरण शैली में लिखित होने पर भी 'रोज़' एक कहानी ही है' इस कथन के आलोक में इस कहानी की शिल्पगत विशेषताएँ बताइए।
6. हिंदी कहानी को अज्ञेय का क्या योगदान है?

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. कहानी : नयी कहानी – नामवर सिंह
2. हिंदी कहानी : पाठ और प्रक्रिया – सुरेन्द्र चौधरी
3. हिंदी कहानी का विकास – मधुरेश